भारतीय समाज कक्षा 12

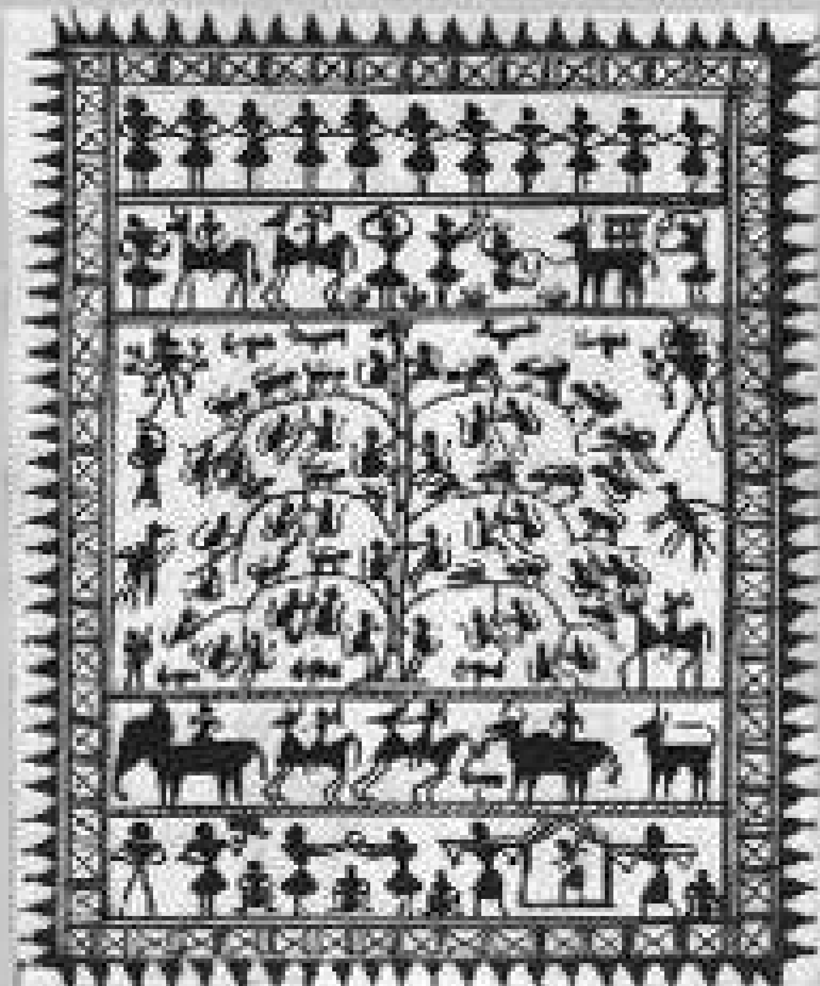

भारतीय समाज

कक्षा 12 के लिए समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक

भारतीय समाज

कक्षा 12 के लिए समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 81-7450-721-3

प्रथम संस्करण
मार्च 2007 चैत्र 1929

पुनर्मुद्रण
नवंबर 2007 कार्तिक 1929
जनवरी 2009 माघ 1930

PD 6T RA

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2007

रु. 75.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा यंग प्रिंटिंग प्रैस, 2626, गली नं. 8, बिहारी कॉलोनी, शाहदरा, दिल्ली 110 032 द्वारा मुद्रित।

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुनः प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।

एन सी ई आर टी के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बैंगलूर 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग : *पेय्येटी राजाकुमार*
मुख्य उत्पादन अधिकारी : *शिव कुमार*
मुख्य संपादक : *श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार अधिकारी : *गौतम गांगुली*
सहायक संपादक : *रेखा अग्रवाल*
उत्पादन सहायक : राजेश पिप्पल

आवरण एवं लेआऊट
श्वेता राव

चित्रांकन
निधि वाधवा

कारटोग्राफी
कारटोग्राफिक डिज़ाइन्स

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक विद्यालय और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास है। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि विद्यालयों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और सीखने के दौरान अपने अनुभवों पर विचार करने का अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों एवं स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितनी वार्षिक कैलेंडर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक विद्यालय में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में विचार-विमर्श और ऐसी गतिविधियों को प्राथमिकता देती है जिन्हें करने के लिए व्यावहारिक अनुभवों की आवश्यकता होती है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति के अध्यक्ष *प्रोफ़ेसर* हरि वासुदेवन और इस पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार *प्रोफ़ेसर* योगेंद्र सिंह की विशेष आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के विकास में कई शिक्षकों ने योगदान किया, इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग

दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा *प्रोफ़ेसर* मृणाल मीरी *एवं प्रोफ़ेसर* जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
20 नवंबर 2006

इस पाठ्यपुस्तक का उपयोग

कक्षा 12 के लिए समाजशास्त्र की दो पाठ्यपुस्तकों में यह पहली पुस्तक आपके हाथों में है। इसका मूल उद्देश्य है राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के नए मार्गदर्शक सिद्धांतों को क्रियान्वित करना। साथ ही यह पुस्तक राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा अपनाई गई समाजशास्त्र विषय के पाठ्यक्रम के खास लक्ष्यों तक पहुँचने का प्रयास भी करती है (बॉक्स 1 देखें)।

बॉक्स 1: राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् 2005 के समाजशास्त्र पाठ्यक्रम के लक्ष्य

- ☐ छात्रों को कक्षा की पढ़ाई को अपने परिवेश से जोड़ने में मदद करना;
- ☐ समाजशास्त्र के बुनियादी प्रत्ययों से छात्रों का परिचय कराना ताकि वे सामाजिक जीवन को देख-समझ सकें;
- ☐ छात्रों को सामाजिक प्रक्रियाओं की जटिलता से अवगत कराना;
- ☐ छात्रों में भारत व पूरे विश्व की सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता के प्रति सम्मान जगाना;
- ☐ छात्रों में समकालीन भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तनों की विश्लेषणात्मक परख विकसित करना।

भारतीय समाज कक्षा 11 के दो पाठ्यक्रमों की विषयवस्तु को आगे बढ़ाती है व कक्षा 12 में समाजशास्त्र की दूसरी पुस्तक *भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास* का साथ देती है। इस पुस्तक के अध्यायों तथा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के पाठ्यक्रम के संबंध को बॉक्स 2 में स्पष्ट किया गया है।

बॉक्स 2: राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम के साथ संगतता

(पाठ्यक्रम के विषय से संबंधित इस पाठ्यपुस्तक के अध्याय एवं अनुभाग प्रत्येक पाठ्यक्रम अनुभाग के साथ कोष्ठक में दिए गए हैं)

यूनिट I : भारतीय समाज की संरचना

1.1 भारतीय समाज : एक परिचय (अध्याय 1; 4.1 में 'उपनिवेशवाद और नए बाज़ारों का आविर्भाव'; 6.1 में 'समुदाय, राष्ट्र एवं राष्ट्र-राज्य')

1.2 जनसांख्यिकीय संरचना (अध्याय 2)

1.3 ग्रामीण-नगरीय विभिन्नताएँ एवं संयोजन (अध्याय 2.6; 4.1 में 'साप्ताहिक आदिवासी बाज़ार' वाला अनुभाग)

यूनिट II : सामाजिक संस्थाएँ : निरंतरता एवं परिवर्तन

2.1 परिवार एवं नातेदारी (अध्याय 3.3, अध्याय 5.3)

2.2 जाति व्यवस्था (अध्याय 3.1; 4.1 में 'जाति आधारित बाज़ार एवं व्यापारिक तंत्र'; अध्याय 5.2)

2.3 जनजातीय समाज (अध्याय 3.2; 4.1 में 'साप्ताहिक आदिवासी बाज़ार' वाला अनुभाग)

2.4 बाज़ार एक सामाजिक संस्था के रूप में (अध्याय 4)

यूनिट III : सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार

3.1 जातिगत पूर्वाग्रह, अनुसूचित जातियाँ एवं अन्य पिछड़े वर्ग (अध्याय 5.1, 5.2)

3.2 जनजातीय समुदायों की उपेक्षा (अध्याय 5.1, 5.2)

3.3 महिलाओं की समानता के लिए संघर्ष (अध्याय 5.3, अध्याय 3.3)

3.4 धार्मिक अल्पसंख्यकों का संरक्षण (अध्याय 6.1, 6.3)

3.5 अन्यथा सक्षम लोगों की देखभाल (अध्याय 5.4)

यूनिट IV : विविधता में एकता की चुनौतियाँ

4.1 संप्रदायवाद, क्षेत्रवाद एवं जातिवाद (अध्याय 6, अध्याय 5.1, 5.2)

4.2 बहुविध एवं असमान समाजों में राज्य की भूमिका (अध्याय 6, 6.1, अध्याय 5.1, 5.2)

4.3 हमारी समानताएँ (अध्याय 6, 6.1, 6.4)

यूनिट V : परियोजना कार्य (अध्याय 7)

इस पुस्तक के उपयोग संबंधी सुझाव

जैसाकि बताया जा चुका है यह पुस्तक राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा के मूल भाव को व्यक्त करती है। इस रूपरेखा में बच्चों पर पाठ्यक्रम के और खासकर तथ्यात्मक जानकारी की पुनर्प्रस्तुति के बोझ को कम करने पर ज़ोर दिया गया है। इसके अलावा विषयवस्तु को आज के सामाजिक वातावरण और किशोरों के दैनिक जीवन से जोड़ने का प्रयास किया गया है। ऐसा करने के लिए पाठ्यपुस्तक में दी गई सामग्री व उसकी प्रस्तुति के साथ-साथ कक्षा में पाठ्यपुस्तक के प्रयोग की विधि में भी बदलाव अनिवार्य है। बेशक हर विद्यालय और हर कक्षा में शिक्षक व छात्र इस पुस्तक से काम लेने के अपने-अपने तरीके विकसित करेंगे। लेकिन इसके बावजूद यह सच है कि सामान्यत: नयी पाठ्यचर्या की रूपरेखा के तहत तथ्यों को रटकर दोहराने की प्रक्रिया को कम और परिचर्चा, क्रियाकलाप व प्राकल्प जैसी प्रक्रियाओं को अधिक महत्त्व दिया जाएगा।

उपरोक्त परिवर्तन राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा 2005 की उन सामान्य विशेषताओं में से एक है जो सभी विषयों की शैक्षणिक पद्धति को प्रभावित करेंगे। लेकिन इनके अलावा इस पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु से संबंधित कुछ खास मुद्दे ऐसे भी हैं जिनके लिए अलग से तैयारी करनी होगी। कुछ सुस्पष्ट उदाहरण अध्याय 3, 5 और 6 में हैं जिनमें जाति व अन्य प्रकार की विषमताओं व अल्पसंख्यक समुदायों से संबंधित विषयों का ज़िक्र है। हर शिक्षक को अपनी कक्षा की सामाजिक संरचना को ध्यान में रखते हुए इन संवेदनशील विषयों को किसी भी समुदाय के छात्रों को ठेस पहुँचाए बिना पढ़ाने के उपाय ढूँढने होंगे। लेकिन साथ-साथ यह भी ज़रूरी है कि संपन्न-समृद्ध समुदायों के छात्रों को भी अपनी सहज-सामान्य मान्यताओं व मतों पर पुनर्विचार करने को प्रोत्साहित किया जाए। कुछ इन्हीं कारणों से अध्याय 3 में गतिविधियों की संख्या कम रखी गयी है। आशा है कि शिक्षकगण अपनी कक्षाओं की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त गतिविधियाँ बनाएँगे।

इस अपवाद को छोड़कर बाकी पुस्तक में गतिविधियों का भरपूर प्रयोग किया गया है। गतिविधियाँ इस पाठ्यपुस्तक का अभिन्न अंग हैं; इन्हें सुविचारित व योजनाबद्ध तरीके से विषयवस्तु में सम्मिलित किया गया है। शिक्षक व छात्र चाहें तो शौक से इन गतिविधियों में फेरबदल कर सकते हैं। कृपया इन्हें खारिज न करें, संशोधित रूप में ही सही लेकिन इन्हें करवाएँ ज़रूर–यही हमारी विनती है। गतिविधियाँ कई प्रकार की हैं। एक नए प्रकार की गतिविधि को 'अभ्यास' कहा गया है। 'अभ्यास' पुस्तक में दिए गए किसी खास उद्धरण अथवा तालिका पर आधारित हैं, और इनमें छात्रों से अपेक्षा की जाती है कि वे सटीक सवालों के सटीक जवाब दें। अभ्यास को *अनिवार्य* माना जाना चाहिए; इन्हें कक्षा में अवश्य कराएँ। इनके अलावा पुस्तक में अतिरिक्त जानकारी देने वाले 'सूचना बॉक्स' भी हैं। यह जानकारी छात्रों के ज्ञानवर्धन व बेहतर समझ के लिए दी गई हैं और परीक्षा में इन पर सीधे सवाल नहीं पूछे जाएँगे। इस पुस्तक में सूचना बॉक्स रंगीन हैं (यानी गैर-स्लेटी रंगों के सभी बॉक्स सूचना बॉक्स हैं)।

पुस्तक की विषयवस्तु भारी भरकम न लगे इसलिए हमने संदर्भ-सूची को सीमित रखा है। हर अध्याय के अंत में दी गई संदर्भ-सूची में उद्धृत ग्रंथों के अलावा विषयवस्तु पर आगे पढ़ने के लिए सुझाव शामिल हैं। शिक्षकगण अगर दी गई संदर्भ-सूची से हटकर अन्य उपयोगी संदर्भ सुझाना चाहें तो इसका स्वागत है। आप ऐसे सुझाव हमें भी भेजें (पता नीचे दिया गया है)। पुस्तक के अंत में एक समग्र शब्दावली उपलब्ध है–छात्रों को इसकी मदद लेने के लिए प्रोत्साहित करें। जिन शब्दों को पुस्तक के मूल पाठों में विस्तार से समझाया गया है वे प्रायः शब्दावली में नहीं हैं, लेकिन यह याद रहे कि मोटे अक्षरों में छपे सभी शब्दों के अलावा शब्दावली में और भी बहुत सारे शब्द हैं।

दो शब्द प्राकल्प व प्रयोगात्मक कार्य पर। यह एक नयी पहल है जिसका मूल्यांकन पर महत्त्वपूर्ण असर पड़ेगा क्योंकि प्राकल्पों पर बीस प्रतिशत अंक दिए जाएँगे (अर्थात् वार्षिक परीक्षा केवल 80 अंकों की होगी)। अतः प्राकल्पों को गंभीरता से लेना होगा तथा इन्हें पूरी लगन के साथ करना-करवाना होगा। अध्याय 7 में प्राकल्पों के विषय में कुछ सुझावों के अलावा कक्षा 11 की पाठ्यपुस्तक (*समाजशास्त्र एक परिचय*, अध्याय 5) की शोध प्रणाली संबंधी चर्चा का सारांश भी दिया गया है। प्राकल्पों को पूरा करने में काफ़ी समय लगेगा, इसलिए यह अनिवार्य है कि इन्हें पाठ्यक्रम के प्रारंभिक दौर में ही शुरू करवा दिया जाए। इस पुस्तक के अध्याय 2 व 3 के बाद प्राकल्पों पर ध्यान दिया जाना चाहिए और छात्रों को अपने-अपने प्राकल्पों का विषय निर्धारित कर लेना चाहिए। सभी अध्यायों को पढ़ा लेने तक इंतज़ार न करें। पाठ्यक्रम के अंत में भी अध्याय 7 को दोबारा पढ़ा जा सकता है। इस अध्याय में दिए गए सुझाव, सुझाव मात्र हैं। आप अन्य उपर्युक्त विषयों पर भी प्राकल्प कर या करवा सकते हैं, लेकिन ऐसा करते समय अध्याय 7 में दिए गए शोध प्रणाली व शोध कार्य संबंधित व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक समस्याओं को अवश्य ध्यान में रखें।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा 2005 के सरोकारों को साकार करने का यह प्रथम प्रयास है। हम जानते हैं कि इस पाठ्यपुस्तक को कई तरह से सुधारा जा सकता है। हमें पूरा विश्वास है कि आने वाले साल में शिक्षक व छात्र अपने सुझाव भेजकर इस पुस्तक को बेहतर बनाने में हमारी मदद करेंगे। हमें आपकी प्रतिक्रियाओं व समीक्षात्मक टिप्पणियों का ही नहीं, बल्कि पुस्तक की साज सज्जा व ग्रंथकार संबंधी सुझावों का भी इंतज़ार है। हम वादा करते हैं कि सभी उपयोगी सुझावों को इस पाठ्यपुस्तक के अगले संस्करण में साभार प्रकाशित करेंगे।

कृपया इस पते पर लिखें:

विभागाध्यक्ष,
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग,
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली-110016
ई:मेल द्वारा संपर्क के लिए इस पते पर लिखें: ncertsociologytexts@gmail.com

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता,**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन **सबमें** व्यक्ति की गरिमा और
राष्ट्र की एकता और अखंडता
सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता।

मुख्य सलाहकार

योगेंद्र सिंह, *सेवामुक्त प्रोफ़ेसर,* सेंटर फॉर द सोशल सिस्ट्मस, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली।

सलाहकार

सतीश देशपांडे, *प्रोफ़ेसर,* समाजशास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

मैत्रेयी चौधरी, *प्रोफ़ेसर,* सेंटर फॉर द सोशल सिस्ट्मस, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली।

सदस्य

अमिता बाविसकर, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर,* इंस्टीट्यूट ऑफ़ इकोनॉमिक ग्रोथ, दिल्ली।

अंजन घोष, *फ़ैलो,* सेंटर फॉर स्ट्डीज़ इन सोशल साइंसेस, कोलकाता।

कैरल उपाध्याय, *फ़ैलो,* नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ एडवांस स्ट्डीज़, बैंगलोर।

खमयमबम इंदिरा, *लेक्चरर,* नार्थ ईस्ट रीज़नल इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन, एन.सी.ई.आर.टी., शिलांग।

कुशल देब, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर,* सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, आई. आई. टी., मुंबई।

मंजु भट्ट, *रीडर,* सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली।

तसौंगवाई न्यूमई, *लेक्चरर,* नार्थ ईस्ट रीज़नल इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन, एन.सी.ई.आर.टी., शिलांग।

हिंदी अनुवाद

परशुराम शर्मा, *भूतपूर्व निदेशक* (राजभाषा), भारत सरकार।

रवि नंदन सिंह, *लेक्चरर,* समाजशास्त्र विभाग, हिंदू महाविद्यालय, दिल्ली।

सुषमा, *लेक्चरर,* समाजशास्त्र विभाग, अदिति महाविद्यालय, बवाना, दिल्ली।

सारिका चंद्रवंशी साजू, *लेक्चरर,* सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली।

सदस्य समन्वयक

सारिका चंद्रवंशी साजू, *लेक्चरर,* सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली।

आभार

इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में अनेक व्यक्तियों के सहयोग के लिए हम आभार व्यक्त करते हैं। सबसे पहले, उन सभी सहकर्मियों को धन्यवाद, जिन्होंने अपनी अन्य व्यस्तताओं से समय निकालकर इस कार्य को पूरा करने में अपना सहयोग दिया। पाठ्यपुस्तक की पाठ्यसामग्री में उल्लेखनीय योगदान के लिए संपादक दल के सदस्यों अमिता बाविसकर, कुशल देब, अंजन घोष एवं कैरल उपाध्याय को हम धन्यवाद देते हैं। हम *प्रोफ़ेसर* नंदिनी सुंदर, समाजशास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय; नित्या रामाकृष्णन, *वकील,* नयी दिल्ली; लता गोविंद, लखनऊ; सीमा बनर्जी, लक्ष्मण पब्लिक स्कूल, नयी दिल्ली एवं देव पाठक, ब्लूबेल इंटरनेशनल स्कूल, नयी दिल्ली का भी उनके सहयोग एवं सुझावों के लिए आभार व्यक्त करते हैं। हम *प्रोफ़ेसर* सतीश सबरवाल एवं *प्रोफ़ेसर* एन. जयराम के विशेष आभारी हैं जिन्होंने मॉनीटरिंग कमेटी के सदस्य के रूप में इस पाठ्यपुस्तक को बेहतर बनाने में विशेष योगदान दिया।

श्वेता राव विशेष धन्यवाद की पात्र हैं जिन्होंने बहुत कम समय में विभिन्न स्रोतों से कुछ छायाचित्र इकट्ठे किए और इस पाठ्यपुस्तक को डिज़ाइन करने की चुनौती को स्वीकारा। इनका योगदान पाठ्यपुस्तक के हर पृष्ठ पर दिखाई देता है। इतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान है सारिका चंद्रवंशी साजू का जो इस परियोजना की संचालक हैं। इन दोनों के बिना इस पाठ्यपुस्तक का निर्माण शायद पूरा न हो पाता।

हमेशा की तरह मुख्य सलाहकार, *प्रोफ़ेसर* योगेंद्र सिंह समर्थन के स्तंभ रहे और उन्होंने हममें आगे बढ़ने के लिए आवश्यक विश्वास जागृत किया। *प्रोफ़ेसर* कृष्ण कुमार, *निदेशक*, एन.सी.ई.आर.टी. के साथ मिलकर *प्रोफ़ेसर* योगेंद्र सिंह ने वो *अभय हस्त* प्रदान किया जिससे हमारे सामूहिक प्रयासों को दिशा मिली। *प्रोफ़ेसर* सविता सिन्हा, *अध्यक्ष*, सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली ने हर क्षण, हर तरह का समर्थन प्रदान किया। श्वेता उप्पल, *मुख्य संपादक,* प्रकाशन विभाग, एन.सी.ई.आर.टी. ने हमारे काम को सरल तो बनाया ही साथ ही उन्होंने हमें ऐसे ऊँचे लक्ष्य निर्धारित करने के लिए प्रोत्साहित किया जो शायद हम स्वयं तय न कर पाते।

वंदना आर. सिंह संपूर्ण पाठ्यपुस्तक को पढ़ने एवं परिवर्तन के लिए आवश्यक सुझाव देने के लिए विशेष धन्यवाद की पात्र हैं। इस पुस्तक के निर्माण में योगदान के लिए परिषद् नाज़िया ख़ान, नरगिस इस्लाम, *डी. टी. पी. ऑपरेटर;* मनोज मोहन, *कॉपी एडीटर;* अचल कुमार, अनामिका गोविल, *प्रूफ रीडर* एवं दिनेश कुमार, *कंप्यूटर स्टेशन इंचार्ज* का भी आभार व्यक्त करती है। हम प्रकाशन विभाग का भी उनके सहयोग के लिए आभार प्रकट करते हैं।

अंततः हम उन सभी संस्थाओं एवं व्यक्तियों के प्रति आभारी हैं जिन्होंने हमें उनके प्रकाशनों से सामग्री उपयोग करने की अनुमति दी। डा. सी. पी. चंद्रशेखर, डा. रामचंद्र गुहा एवं बशारत पीर को हम धन्यवाद देते हैं जिनके लेखों का फ्रंटलाइन, द टाइम्स ऑफ़ इंडिया एवं तहलका से हमने उपयोग किया है। एन.सी.ई.आर.टी. आर. के. लक्ष्मण की विशेष आभारी है जिन्होंने अपने कार्टूनों का इस पाठ्यपुस्तक में उपयोग करने की अनुमति दी। परिषद् डा. मालविका कारलेकर का भी आभार व्यक्त करती है जिन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित अपनी पुस्तक *विज़ुअलाइज़िंग इंडियन वीमन 1857–1947*, से छायाचित्रों के प्रयोग के लिए हमें अनुमति दी। हम सेंटर फॉर स्टडीज़ इन सोशल साइंसेस, कोलकाता के भी आभारी हैं जिन्होंने स्वर्गीय सिद्धार्थ घोष के संकलन से छायाचित्र का उपयोग करने की हमें अनुमति दी। कुछ छायाचित्र राजस्थान पर्यटन विभाग, भारत सरकार, नयी दिल्ली, इंडिया टुडे, आउटलुक एवं फ्रंटलाइन से लिए गए हैं। परिषद् इन लेखकों, कॉपीराइट धारकों तथा प्रकाशकों के प्रति आभार व्यक्त करती है। परिषद् प्रेस सूचना ब्यूरो, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय, नयी दिल्ली को भी उनके फ़ोटो पुस्तकालय में उपलब्ध चित्रों के उपयोग की अनुमति देने के लिए धन्यवाद देती है। एक कोलाज का निर्माण सेंट मैरी स्कूल, नयी दिल्ली की कक्षा 6 की छात्रा महिमा चोपड़ा द्वारा किया गया था। परिषद् इस छात्रा के प्रति आभार व्यक्त करती है। कुछ छायाचित्र समरक्षण ट्रस्ट, नयी दिल्ली; आरती नागराज, नयी दिल्ली, वाय. के. गुप्ता एवं आर. सी. दास, केंद्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान, एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रदान किए गए थे। परिषद् इन सभी के प्रति आभार व्यक्त करती है।

विषय-सूची

आमुख	*iii*
इस पाठ्यपुस्तक का उपयोग	*v*
अध्याय 1 **भारतीय समाज : एक परिचय**	**1-8**
अध्याय 2 **भारतीय समाज की जनसांख्यिकीय संरचना**	**9-42**
अध्याय 3 **सामाजिक संस्थाएँ : निरंतरता एवं परिवर्तन**	**43-64**
अध्याय 4 **बाज़ार एक सामाजिक संस्था के रूप में**	**65-84**
अध्याय 5 **सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के स्वरूप**	**85-118**
अध्याय 6 **सांस्कृतिक विविधता की चुनौतियाँ**	**119-148**
अध्याय 7 **परियोजना कार्य के लिए सुझाव**	**149-160**
शब्दावली	**161-168**

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके; और

(ट) यदि माता-पिता या संरक्षक है, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने, यथास्थिति, बालक या प्रतिपाल्य को शिक्षा के अवसर प्रदान करे।

अध्याय 1

भारतीय समाज : एक परिचय

एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में समाजशास्त्र उन सभी विषयों से अलग है जिन्हें आपने पढ़ा हो। यह एक ऐसा विषय है जिसमें कोई भी शून्य से शुरुआत नहीं करता है। सभी को समाज के बारे में पहले से ही कुछ न कुछ पता होता है। अन्य विषयों को हम सिखाए जाने के कारण ही सीख पाते हैं; इनका ज्ञान हमें औपचारिक या अनौपचारिक तरह से विद्यालय, घर या अन्य संदर्भ में सिखाया–पढ़ाया जाता है। परन्तु समाज के बारे में हमारा बहुत सारा ज्ञान सुस्पष्ट पढ़ाई के बगैर प्राप्त किया हुआ होता है। समाज के बारे में ज्ञान 'स्वाभाविक' या 'अपने आप' प्राप्त किया हुआ ही प्रतीत होता है क्योंकि यह हमारे बड़े होने की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अभिन्न हिस्सा है। पहली कक्षा में प्रवेश कर रहे किसी बच्चे से हम यह अपेक्षा नहीं करते की वह इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान या अर्थशास्त्र जैसे विषयों के बारे में पहले से ही कुछ जानता हो। लेकिन एक छः वर्षीय बच्चा भी समाज एवं सामाजिक संबंधों के बारे में कुछ न कुछ ज़रूर जानता है। ज़ाहिर है कि अठारह साल के युवा वयस्क होने के नाते आप अपने समाज के बारे में बहुत कुछ जानते हैं–इसलिए नहीं कि आपने समाज का अध्ययन किया है, बल्कि महज इसीलिए कि आप इस समाज में रहते हैं और इसमें पले–बढ़े हैं।

इस प्रकार का "पहले से ही" या "अपने आप" प्राप्त किया गया सहज–ज्ञान या सहज बोध समाजशास्त्र के लिए बाधक भी है और सहायक भी। सहायक इसलिए कि आम तौर पर छात्र समाजशास्त्र से डरते नहीं–उन्हें लगता है कि यह विषय आसान होगा क्योंकि इसकी विषयवस्तु के बारे में उन्हें पहले से बहुत कुछ पता है। लेकिन सहजबोध (या common sense) द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान समाजशास्त्र के लिए एक बाधा या समस्या भी है। वह इसलिए कि समाजशास्त्र समाज के व्यवस्थित व वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित है। इस प्रकार की अध्ययन प्रक्रिया को सीखने–समझने के लिए अनिवार्य है कि हम अपने सहज बोध को 'भूलने' या 'मिटा देने' की भरपूर कोशिश करें। किसी बुने हुए स्वेटर या अन्य वस्त्र को नये सिरे से बुनने के लिए पहले की बुनाई को उधेड़ना पड़ता है। ठीक उसी तरह समाजशास्त्र को सीखने से पहले हमें समाज के बारे में अपनी पूर्व धारणाओं को उधेड़ना पड़ता है।

वास्तव में, समाजशास्त्र को सीखने के प्रारंभिक चरण में मुख्यतः यह भूलने की प्रक्रियाएँ ही शमिल हैं। यह आवश्यक है, क्योंकि समाज के बारे में हमारा पहले से प्राप्त ज्ञान – हमारा सामान्य बोध – एक विशिष्ट दृष्टिकोण से प्राप्त किया हुआ होता है। यह उस सामाजिक समूह और सामाजिक वातावरण का दृष्टिकोण होता है जिसमें हम समाजीकृत होते हैं। हमारे सामाजिक संदर्भ समाज एवं सामाजिक संबंधों के बारे में हमारे मतों, आस्थाओं एवं अपेक्षाओं को आकार देते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि यह आस्थाएँ गलत ही हैं, परंतु यह गलत हो भी सकती हैं। कठिनाई यह है कि वे अक्सर अपूर्ण (संपूर्ण का विलोम) एवं पूर्वाग्रहपूर्ण (निष्पक्ष का विलोम) होती हैं। अतः हमारा 'बिना सीखा गया' ज्ञान या सहज सामान्य बोध अक्सर हमें सामाजिक वास्तविकता का केवल एक हिस्सा ही दिखलाता है। इसके अतिरिक्त यह सामान्यतः हमारे अपने सामाजिक समूह के हितों एवं मतों की तरफ झुका हुआ होता है।

समाजशास्त्र इस समस्या का समाधान एक ऐसे दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तुत नहीं करता जिसके द्वारा संपूर्ण वास्तविकता को पूरी तरह निष्पक्ष तरीके से देखा जा सके। वास्तव में, समाजशास्त्रियों का विश्वास है कि ऐसा आदर्श परिप्रेक्ष्य या 'प्रेक्षण स्थान' होता ही नहीं है। हम हमेशा किसी निर्धारित स्थान पर खड़े होकर देख सकते हैं; और ऐसे प्रत्येक 'स्थान' से विश्व को केवल एक आंशिक व 'पक्षपाती' दृष्टि से ही देखा जा सकता है। समाजशास्त्र हमें यह सीखने का निमंत्रण देता है कि संसार को केवल हमारे अपने दृष्टिकोण के अलावा हम से अलग लोगों के दृष्टिकोणों से कैसे देखा जाए। अलग–अलग अवस्थितियों से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के पक्षपात व अधूरेपन से परिचित होकर हम एक महत्त्वपूर्ण सबक सीख सकते

हैं। मानव समाज के संदर्भ में निष्पक्ष "वैज्ञानिक सत्य" की ओर बढ़ना हो तो सबसे पहले हमें यह स्वीकार करना होगा कि सत्य एक नहीं अनेक हैं और प्रत्येक सत्य अपने आप में अपूर्ण है। समाजशास्त्र के क्षेत्र में सत्य की बहुलता एक समस्या है तो इसका समाधान है तुलना–नाना प्रकार की अवस्थितियों से उपजे अलग–अलग नज़रियों को आमने–सामने करना। दूसरे शब्दों में कहें तो समाजशास्त्र की स्वाभाविक मुद्रा तुलनात्मक होती है। समाजशास्त्र हमें पूर्वाग्रह–मुक्त करने का दावा तो नहीं करता, बल्कि हममें अपने व औरों के पूर्वाग्रहों को पहचानने की क्षमता विकसित करने का वादा करता है।

इससे भी मज़ेदार बात यह है कि समाजशास्त्र आपको यह दिखा सकता है कि दूसरे आपको किस तरह देखते हैं; यूँ कहें, आपको यह सिखा सकता है कि आप स्वयं को 'बाहर से' कैसे देख सकते हैं। इसे 'स्ववाचक' या कभी–कभी **आत्मवाचक** कहा जाता है। यह अपने बारे में सोचने, अपनी दृष्टि को लगातार अपनी तरफ़ घुमाने (जो कि अक्सर बाहर की तरफ़ होती है) की क्षमता है। परंतु यह स्वनिरीक्षण आलोचनात्मक होना चाहिए–इसमें समीक्षा अधिक और आत्म–मुग्धता कम होनी चाहिए।

सबसे सरल स्तर पर कहा जा सकता है कि भारतीय समाज और इसकी संरचना की समझ आपको एक सामाजिक नक्शा प्रदान करती है जिसमें आप अपने ठौर–ठिकाने, स्थान का पता लगा सकते हैं। भौगोलिक नक्शे की तरह, स्वयं का सामाजिक नक्शे में पता लगाना इस अर्थ में उपयोगी हो सकता है कि इससे आपको यह जानकारी मिलती है कि समाज में दूसरों से संबंध में आपकी स्थिति क्या है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि आप अरुणाचल प्रदेश में रहते हैं। अगर आप भारत के भौगोलिक नक्शे को देखेंगे तो आपको पता चलेगा कि आपका राज्य भारत के उत्तर–पूर्वी कोने में स्थित है। आपको यह भी पता चलेगा कि आपका राज्य अनेक बड़े राज्यों जैसे, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र या राजस्थान की तुलना में छोटा है, परंतु यह अनेक अन्य राज्यों जैसे, मणिपुर, गोवा, हरियाणा या पंजाब से बड़ा है। यदि आप प्राकृतिक विशेषताओं के नक्शे को देखेंगे तो आपको यह जानकारी मिल सकती है कि भारत के अन्य क्षेत्रों एवं राज्यों की तुलना में अरुणाचल का भूभाग कैसा (पर्वतीय, वनों से भरपूर) है, यहाँ कौन से प्राकृतिक संसाधन भरपूर मात्रा में पाए जाते हैं एवं इसी तरह की अन्य बातों के बारे में आप जान पाएँगे।

एक तुलनात्मक सामाजिक नक्शा आपको समाज में आपके निर्धारित स्थान के बारे में बता सकता है। उदाहरण के लिए, सत्रह या अठारह वर्ष की आयु में आप उस सामाजिक समूह के सदस्य हैं जिसे "युवा पीढ़ी" कहा जाता है। भारत की लगभग 40% जनसंख्या आपकी या आपसे छोटे उम्र के लोगों की हैं। आप किसी विशेष क्षेत्रीय या भाषायी समुदाय (जैसे गुजरात से गुजराती भाषी या आंध्र प्रदेश से तेलुगु भाषी) से संबंधित होंगे। आपके माता–पिता के व्यवसाय एवं आपके परिवार की आय के मुताबिक आप एक आर्थिक वर्ग (जैसे, निम्न मध्यम वर्ग या उच्च वर्ग) के सदस्य भी अवश्य होंगे। आप एक विशेष धार्मिक समुदाय, एक जाति या जनजाति, या ऐसे ही किसी अन्य सामाजिक समूह के सदस्य भी हो सकते हैं। ऐसी प्रत्येक पहचान सामाजिक नक्शे में एवं सामाजिक संबंधों के ताने–बाने में आपका स्थान निर्धारित करती है। समाजशास्त्र आपको समाज में पाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के समूहों, उनके आपसी संबंधों एवं आपके अपने जीवन में उनके महत्त्व के बारे में बतलाता है।

परंतु समाजशास्त्र केवल आपका या अन्य लोगों का स्थान निर्धारित करने में मदद करने एवं विभिन्न सामाजिक समूहों के स्थानों का वर्णन करने के अलावा और भी बहुत कुछ सिखा सकता है। जैसाकि एक प्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री सी. राईट मिल्स ने लिखा है, समाजशास्त्र आपकी "व्यक्तिगत परेशानियों" एवं "सामाजिक मुद्दों" के बीच की कड़ियों एवं संबंधों को उजागर करने में मदद कर सकता है। व्यक्तिगत परेशानियों से मिल्स का तात्पर्य है, विभिन्न प्रकार की व्यक्तिगत चिंताएँ, समस्याएँ या सरोकार जो सबके

होते हैं। उदाहरण के लिए, हो सकता है आपके परिवार के बड़े सदस्य या आपके भाई, बहन या दोस्त आपके साथ जो व्यवहार करते हैं, उससे आप खुश नहीं हैं। शायद आप अपने भविष्य के बारे में या आपको किस तरह की नौकरी मिलेगी इस बारे में चिंतित हों। आपकी व्यक्तिगत सामाजिक पहचान के अन्य पक्ष भी गर्व, तनाव, आत्मविश्वास या विभिन्न तरीकों की उलझन के स्रोत हो सकते हैं। पर यह सभी लक्षण एक ही व्यक्ति विशेष से जुड़े हैं और इनका अर्थ इस व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य तक ही सीमित है। दूसरी तरफ़, एक सामाजिक मुद्दा बड़े समूहों से संबंधित होता है न कि उन एकल व्यक्तियों से जो उन समूहों के सदस्य हैं।

अतः बुजुर्ग एवं युवा पीढ़ियों के बीच का 'पीढ़ी अंतराल' या मनमुटाव एक सामाजिक प्रघटना है जो अनेक समाजों एवं समयकालों में सामान्य रूप से पाया जाता है। बेरोज़गारी या परिवर्तनशील व्यावसायिक संरचना का प्रभाव भी एक अन्य सामाजिक मुद्दा है, जो विभिन्न प्रकार के लाखों लोगों से संबंधित हैं। उदाहरण के लिए, सूचना तकनीकी से संबंधित व्यवसायों में अचानक तेज़ी आना एवं साथ ही साथ खेतिहर

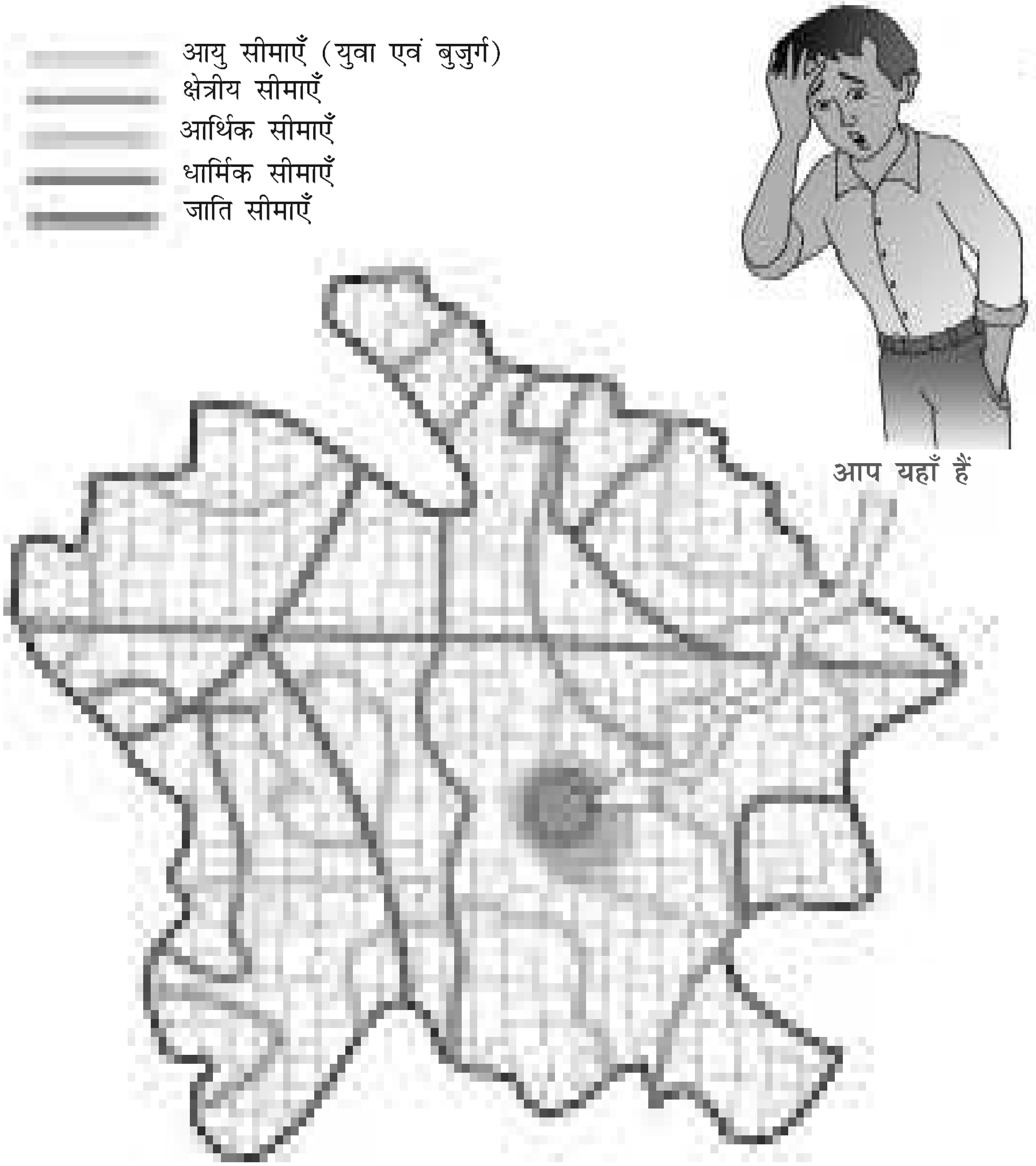

श्रम की माँग में कमी होना इसमें शामिल हैं। सांप्रदायिकता (एक धार्मिक समुदाय का दूसरे धार्मिक समुदाय के प्रति विद्वेष) या जातिवाद (कुछ जातियों द्वारा कुछ अन्य जातियों का बहिष्कार या उत्पीड़न) जैसी प्रघटनाएँ समाज में व्यापक रूप से पाई जाने वाली समस्याएँ हैं। विभिन्न व्यक्तियों की इसमें विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ हो सकती हैं जो कि उनकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती है। अत: कथित उच्च जाति का व्यक्ति जो कथित निम्न जाति में पैदा हुए व्यक्ति को अपने से नीचा मानता है जातिवाद की प्रक्रिया में एक कर्ता की हैसियत में शामिल है, जबकि कथित निम्न जाति का व्यक्ति भी इसमें शामिल है, परंतु एक पीड़ित की हैसियत से। इसी तरह पुरुष एवं स्त्रियाँ दोनों अलग-अलग तरह से लैंगिक असमानताओं से प्रभावित होते हैं।

इस तरह के सामाजिक नक्शे का एक स्वरूप हमें बचपन में ही समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होता है। वह सब तौर-तरीके जिसके द्वारा हमें अपने आसपास की दुनिया को समझना सिखाया जाता है, वह सब इस नक्शे को बनाने में शामिल हैं। यह सहज बोध का नक्शा है। परंतु जैसाकि पहले बताया जा चुका है इस तरह के नक्शे-सहज बोध के आंशिक व पक्षपातपूर्ण होने के कारण-भ्रमित कर सकते हैं या यह विकृत भी हो सकते हैं। हमारे सामान्य बोध के नक्शे के अलावा हमारे पास कोई अन्य तैयार नक्शा नहीं होता है क्योंकि हमारा सामाजीकरण बहुत सारे या सभी सामाजिक समूहों में नहीं केवल एक ही समाज में समाजीकृत होता हैं। अगर हम अन्य प्रकार के नक्शे चाहते हैं तो हमें उन्हें बनाना सीखना होगा। एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य आपको विभिन्न प्रकार के सामाजिक नक्शों को बनाना सिखाता है।

1.1 एक परिचय का परिचय...

इस पाठ्यपुस्तक का उद्देश्य है भारतीय समाज से आपका परिचय कराना-लेकिन सहज बोध के नज़रिए से नहीं वरन् समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से। इस परिचय के परिचय में क्या कहा जा सकता है? शायद यहाँ उन व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं की तरफ़ संकेत करना उचित होगा जो भारतीय समाज को आकार दे रही हैं, जिनके बारे में आप आगे के पृष्ठों में विस्तार से पढ़ेंगे।

मोटे तौर पर कहा जाए तो औपनिवेशिक दौर में ही एक विशिष्ट भारतीय चेतना ने जन्म लिया। औपनिवेशिक शासन ने पहली बार पूरे भारत को एकीकृत किया एवं पूँजीवादी आर्थिक परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण की ताकतवर प्रक्रियाओं से भारत का परिचय कराया। एक तरह से जो परिवर्तन लाए गए उन्हें पलटा नहीं जा सकता था-समाज वैसा कभी नहीं हो सकता जैसा पहले था। औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत भारत की आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकीकरण की उपलब्धि भारी कीमत चुकाकर प्राप्त हुई। औपनिवेशिक शोषण एवं प्रभुत्व द्वारा दिए गए अनेक प्रकार के घावों के निशान भारतीय समाज पर आज भी मौजूद हैं। परंतु उस युग का एक विरोधाभासी सच यह भी है कि **उपनिवेशवाद** ने ही अपने शत्रु **राष्ट्रवाद** को जन्म दिया।

ऐतिहासिक तौर पर, भारतीय राष्ट्रवाद ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अंतर्गत आकार लिया। औपनिवेशिक प्रभुत्व के साझे अनुभवों ने समुदाय के विभिन्न भागों को एकीकृत करने एवं बल प्रदान करने में मदद की। पाश्चात्य शैली की शिक्षा की बदौलत उभरते मध्य वर्ग ने उपनिवेशवाद को उसकी अपनी मान्यताओं के आधार पर ही चुनौती दी। हमारे इतिहास की विडम्बना है कि उपनिवेशवाद एवं पाश्चात्य शिक्षा ने ही परंपरा की पुन:खोज को प्रोत्साहन प्रदान किया। इससे कई तरह की सांस्कृतिक एवं सामाजिक गतिविधियाँ विकसित हुई जिससे राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तरों पर समुदाय के नवोदित रूप सुदृढ़ हुए।

उपनिवेशवाद ने नए वर्गों एवं समुदायों को जन्म दिया जिन्होंने बाद के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। नगरीय मध्य वर्ग राष्ट्रवाद के प्रमुख वाहक थे एवं उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के अभियान की अगुआई की। औपनिवेशिक हस्तक्षेपों ने भी धार्मिक एवं जाति आधारित समुदायों को निश्चित रूप दिया। इन्होंने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। समकालीन भारतीय समाज का भावी इतिहास जिन जटिल प्रक्रियाओं द्वारा विकसित हुआ उनके बारे में आप आने वाले अध्यायों में पढ़ेंगे।

1.2 पाठ्यपुस्तक का पूर्वदर्शन

समाजशास्त्र की दो पाठ्यपुस्तकों में से इस पहली पाठ्यपुस्तक में आपका परिचय भारतीय समाज की आधारभूत संरचना से कराया जाएगा। (द्वितीय पाठ्यपुस्तक भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास की विशिष्टताओं पर केंद्रित होगी)।

हम भारतीय जनसंख्या की जनसांख्यिकीय संरचना (अध्याय 2) पर विचार-विमर्श से शुरुआत करते हैं। जैसाकि आप जानते हैं, आज भारत विश्व का दूसरा सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है एवं अनुमानित तौर पर कुछ दशकों में चीन को पीछे छोड़कर विश्व का सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश बन जाएगा। वह कौन से तरीके हैं जिनके द्वारा समाजशास्त्री एवं जनसांख्यिकीविद् जनसंख्या का अध्ययन करते हैं? जनसंख्या के कौन से पक्ष सामाजिक तौर पर महत्त्वपूर्ण हैं एवं भारतीय परिदृश्य में इन मोर्चों पर क्या हो रहा है? क्या हमारी जनसंख्या विकास में एक बाधा है या इसे विकास में किसी तरह की मदद के रूप में भी देखा जा सकता है? ये कुछ सवाल हैं जिनका उत्तर यह अध्ययन ढूँढ़ने का प्रयास करता है।

अध्याय 3 में हम जाति, जनजाति एवं परिवार की संस्थाओं के रूप में भारतीय समाज के आधारभूत रचना खंडों का पुनःअध्ययन करेंगे। भारतीय उपमहाद्वीप के एक विशिष्ट लक्षण के रूप में जाति ने हमेशा अनेक विद्वानों को अपनी तरफ़ आकर्षित किया है। विभिन्न शताब्दियों से यह संस्था किस तरह से परिवर्तनशील रही है एवं आज वास्तव में जाति का अर्थ क्या है? कौन से संदर्भ के तहत 'जनजाति' की संकल्पना भारत में आई थी? जनजातियाँ किस तरह के समुदाय माने जाते हैं एवं उन्हें इस तरह से परिभाषित करने में हम दाँव पर क्या लगा रहे हैं? जनजातीय समुदाय, समकालीन भारत में स्वयं को किस तरह परिभाषित करते हैं? अंततः एक संस्था के रूप में परिवार भी इस समय के त्वरित एवं गहन सामाजिक परिवर्तन के भारी दबाव का विषय रहा है। भारत में पाए जाने वाले परिवार के विविध स्वरूपों में हम क्या परिवर्तन देखते हैं? इस तरह के प्रश्न पूछकर अध्याय 3 भारतीय समाज के अन्य पक्षों जैसे, जाति, जनजाति एवं परिवार को देखने का आधार तैयार करता है।

अध्याय 4 एक शक्तिशाली संस्था के रूप में बाज़ार के सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों को खोजता है, जो कि संपूर्ण विश्व इतिहास में परिवर्तन का एक वाहक रहा है। यह मानते हुए कि सबसे गहरा प्रभाव

डालने वाले एवं त्वरित आर्थिक परिवर्तन सबसे पहले उपनिवेशवाद द्वारा एवं बाद में विकासशील नीतियों द्वारा लाए गए, यह अध्याय यह जानने का प्रयास करता है कि भारत में विभिन्न प्रकारों के बाज़ारों का उदय किस प्रकार हुआ एवं इसने किन अन्य नयी प्रक्रियाओं को जन्म दिया।

हमारे समाज की विशेषताओं में जो सबसे बड़ी चिंता का विषय रहा है वह है, इसकी असीमित विषमता एवं अपवर्जन (बहिष्कार) उत्पन्न करने की क्षमता। अध्याय 5 इस महत्त्वपूर्ण विषय को समर्पित है। अध्याय 5 विषमता एवं बहिष्कार को जाति, जनजाति, लिंग एवं 'अन्यथा सक्षम' लोगों के संदर्भ में देखता है। विभाजन एवं अन्याय के एक साधन के रूप में कुख्यात जाति व्यवस्था को मिटाने या इसमें सुधार लाने के संयोजित प्रयास उत्पीड़ित जातियों एवं राज्य द्वारा किए जाते रहे हैं। वह कौन सी प्रत्यक्ष समस्याएँ एवं मुद्दे हैं जो इस प्रयास के सामने आए? हमारे हाल ही के अतीत में हुए आंदोलन जाति बहिष्कार को रोकने में कितने सफल रहे हैं? जनजातीय आंदोलनों की विशेष समस्याएँ क्या हैं? आज जनजातियाँ किस संदर्भ में स्वयं की पहचान को पुन:स्थापित करना चाहती हैं? इन समान प्रश्नों को लिंग संबंधों अथवा अन्यथा सक्षम या 'असक्षम' लोगों के संदर्भ में भी जानने का प्रयास किया गया है। हमारा समाज किस सीमा तक अन्यथा सक्षम लोगों की आवश्यकताओं के प्रति संवेदी है। जिन सामाजिक संस्थाओं ने महिलाओं का शोषण किया उन पर महिला आंदोलनों का कितना प्रभाव पड़ा?

अध्याय 6 भारतीय समाज की असीम विविधता से उत्पन्न कठिन चुनौतियों के बारे में बात करता है। यह अध्याय हमें हमारे सामान्य, सुविधाजनक चिंतन के तरीकों से बाहर आने को आमंत्रित करता है। भारत के विविधता में एकता के सुपरिचित नारों का एक जटिल पहलू भी है। सभी असफलताओं एवं कमियों के बावजूद भारत ने इस मोर्चे पर कोई बुरा प्रदर्शन नहीं किया है। हमारी ताकत और कमजोरियाँ क्या रही हैं? युवा वयस्क सामुदायिक संघर्ष, क्षेत्रीय या भाषायी उग्रराष्ट्रीयता एवं जातिवाद को हटाये बगैर या उनसे पूर्ण रूप से प्रभावित हुए बगैर उनका सामना कैसे करेंगे? एक राष्ट्र के रूप में हमारे सामूहिक भविष्य के लिए यह क्यों महत्त्वपूर्ण है कि भारत में पाया जाने वाला प्रत्येक अल्पसंख्यक यह महसूस न करे कि वह असुरक्षित है या खतरे में है?

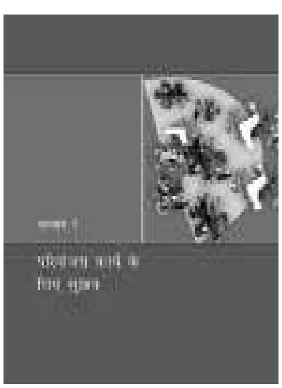

अंतत: अध्याय 7 में आपको एवं आपके शिक्षकों को आपके पाठ्यक्रम के प्रयोगात्मक घटकों के बारे में चिंतन के लिए कुछ सुझाव दिए गए हैं। जैसाकि आप जानेंगे यह काफ़ी रुचिकर एवं मजेदार हो सकता है।

टिप्पणियाँ

अध्याय 2

भारतीय समाज की जनसांख्यिकीय संरचना

जनसांख्यिकी (demography) जनसंख्या का सुव्यवस्थित अध्ययन है। (हिंदी में इसे 'जनांकिकी' भी कहा जाता है)। इसका अंग्रेज़ी पर्याय 'डेमोग्राफी' यूनानी भाषा के दो शब्दों 'डेमोस' (demos) यानी जन (लोग) और 'ग्राफीन' (graphien) यानी वर्णन से मिलकर बना है, जिसका तात्पर्य है – लोगों का वर्णन। जनसांख्यिकी विषय के अंतर्गत जनसंख्या से संबंधित अनेक रुझानों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जैसे; जनसंख्या के आकार में परिवर्तन; जन्म, मृत्यु तथा प्रवसन के स्वरूप; और जनसंख्या की संरचना और गठन अर्थात् उसमें स्त्रियों, पुरुषों और विभिन्न आयु वर्ग के लोगों का क्या अनुपात है? जनसांख्यिकी कई प्रकार की होती है जैसे, आकारिक जनसांख्यिकी (formal demography) जिसमें अधिकतर जनसंख्या के आकार यानी मात्रा का अध्ययन किया जाता है और सामाजिक जनसांख्यिकी जिसमें जनसंख्या के सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक पक्षों पर विचार किया जाता है। सभी प्रकार के जनसांख्यिकीय अध्ययन गणना या गिनती की प्रक्रियाओं पर आधारित होते हैं, जैसे कि जनगणना या सर्वेक्षण, जिनके अंतर्गत एक निर्धारित प्रदेश के भीतर रहने वाले लोगों के बारे में सुव्यवस्थित रीति से आँकड़े एकत्र किए जाते हैं।

जनसांख्यिकी का अध्ययन समाजशास्त्र के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः समाजशास्त्र के उद्भव और एक अलग अकादमिक विषय के रूप में इसकी स्थापना का श्रेय बहुत कुछ जनसांख्यिकी को ही जाता है। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, यूरोप में दो विभिन्न प्रक्रियाएँ लगभग साथ-साथ घटित हुई, एक, राजनीतिक संगठन के प्रमुख रूप में राष्ट्र-राज्यों की स्थापना और दूसरी, आँकड़ों से संबंधित आधुनिक विज्ञान सांख्यिकी की शुरुआत। आगे चलकर इस आधुनिक किस्म के राज्य ने अपनी भूमिका और कार्यों का विस्तार करना शुरू कर दिया। उदाहरण के लिए, उसने जनस्वास्थ्य प्रबंध के प्रारंभिक रूपों के विकास में, आरक्षी (पुलिस) और कानून-व्यवस्था के अनुपालन में, कृषि तथा उद्योग संबंधी आर्थिक नीतियों में, कराधान और राजस्व उत्पादन में और शहरों की शासन व्यवस्था में सक्रिय रूप से दिलचस्पी लेना प्रारंभ कर दिया।

राज्य के कार्यकलापों के नए-नए और बराबर विस्तृत होते हुए क्षेत्र के सुचारु रूप से संचालन के लिए सामाजिक आँकड़ों को, यानी जनसंख्या और अर्थव्यवस्था के विभिन्न पक्षों से संबंधित मात्रात्मक तथ्यों को सुव्यवस्थित एवं नियमित रूप से इकट्ठा करने की आवश्यकता महसूस की गई। राज्य द्वारा सामाजिक आँकड़े इकट्ठे करने का प्रचलन हालाँकि काफ़ी पुराना है पर इसका आधुनिक रूप 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में अस्तित्व में आया। अमेरिका की 1790 की जनगणना संभवतः सबसे पहली आधुनिक किस्म की जनगणना थी और इस पद्धति को यूरोप में भी 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में अपना लिया गया। भारत में जनगणना का कार्य भारत की अंग्रेज़ी सरकार ने सर्वप्रथम 1867-72 के बीच प्रारंभ किया और फिर तो 1881 से हर दस साल बाद (दसवर्षीय) जनगणना की जाती रही। स्वतंत्र भारत ने भी इस पद्धति को चालू रखा और सन् 1951 से अब तक छः दसवर्षीय जनगणनाएँ हो चुकी हैं जिनमें 2001 में हुई जनगणना सबसे नयी है। भारतीय जनगणना विश्व भर में जनगणना किए जाने का सबसे बड़ा कार्य है (हालाँकि चीन की जनसंख्या भारत की तुलना में कुछ अधिक है पर वहाँ नियमित रूप से जनगणना नहीं की जाती)।

जनसांख्यिकीय आँकड़े, राज्य की नीतियाँ, विशेष रूप से आर्थिक विकास और सामान्य जन कल्याण संबंधी नीतियाँ बनाने और कार्यान्वित करने के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। लेकिन जब सामाजिक आँकड़ों को

पहली बार इकट्ठा किया गया तो उन्होंने समाजशास्त्र जैसे एक नए विषय के अध्ययन के लिए एक प्रबल आधार प्रस्तुत कर दिया। लाखों लोगों के बहुत बड़े समुदाय के बारे में इकट्ठे किए गए विशाल आँकड़ों या संख्यात्मक विशेषताओं ने सामाजिक प्रघटना के अस्तित्व के लिए एक मजबूत एवं ठोस तर्क प्रस्तुत किया। यद्यपि देश-स्तरीय अथवा राज्य-स्तरीय आँकड़े, जैसे कि प्रति 1,000 की जनसंख्या के पीछे मृत्यु के मामलों की संख्या यानी मृत्यु दर, अलग-अलग व्यक्तियों की मृत्यु के आँकड़ों को जोड़कर तैयार किए जाते हैं, लेकिन मृत्यु दर अपने आप में एक सामाजिक प्रघटना है, और उसका स्पष्टीकरण सामाजिक स्तर पर ही किया जाना चाहिए। एमिल दुर्खाइम का प्रख्यात अध्ययन जिसमें उन्होंने विभिन्न देशों में आत्महत्या की दरों में पाए जाने वाले अंतरों को स्पष्ट किया है इस बात का एक अच्छा उदाहरण है। दुर्खाइम का कहना था कि आत्महत्या की दर (1,00,000 की जनसंख्या के पीछे आत्महत्या के मामलों की संख्या) को सामाजिक कारणों के द्वारा स्पष्ट करना ही ज़रूरी है। भले ही आत्महत्या के प्रत्येक मामले में आत्महत्या करने वाले प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थितियाँ या कारण अलग-अलग हो सकते हैं।

कभी-कभी आकारिक जनसांख्यिकी और जनसंख्या अध्ययन के अधिक व्यापक क्षेत्रों के बीच अंतर किया जाता है। आकारिक जनसांख्यिकी प्रमुख रूप से जनसंख्या परिवर्तन के संघटकों के विश्लेषण तथा मापन से संबंध रखती है। इसके अंतर्गत मात्रात्मक विश्लेषण पर विशेष रूप से ध्यान केंद्रित किया जाता है जिसके लिए अत्यंत विकसित गणितीय विधि अपनाई जाती है। यह विधि जनसंख्या की वृद्धि और उसके गठन में होने वाले परिवर्तनों का पूर्वानुमान लगाने के लिए उपयुक्त होती है। दूसरी ओर, जनसंख्या अध्ययन या सामाजिक जनसांख्यिकी के अंतर्गत जनसंख्या की संरचनाओं और परिवर्तनों के व्यापक कारणों तथा परिणामों का पता लगाया जाता है। सामाजिक जनसांख्यिकीविदों का विश्वास है कि सामाजिक प्रक्रियाएँ और संरचनाएँ जनसांख्यिकीय प्रक्रियाओं को नियमित करती हैं। समाजशास्त्रियों के समान वे उन सामाजिक कारणों का पता लगाने का प्रयत्न करते हैं जो जनसंख्या के रुझानों को निर्धारित करते हैं।

2.1 जनसांख्यिकी संबंधी कुछ सिद्धांत एवं संकल्पनाएँ

माल्थस का जनसंख्या वृद्धि का सिद्धांत

जनसांख्यिकी के सर्वाधिक प्रसिद्ध सिद्धांतों में एक सिद्धांत अंग्रेज़ राजनीतिक अर्थशास्त्री थॉमस रोबर्ट माल्थस (1766-1834) के नाम से जुड़ा है। माल्थस का जनसंख्या वृद्धि का सिद्धांत, जो उनके जनसंख्या विषयक निबंध 'ऐस्से ऑन पॉपुलेशन' Essay on Population (1788) में स्पष्ट किया गया है जो एक तरह से निराशावादी सिद्धांत था। उनका कहना था कि मनुष्यों की जनसंख्या उस दर की तुलना में अधिक तेज़ी से बढ़ती है जिस दर पर मनुष्य के भरण-पोषण के साधन (विशेष रूप से भोजन, लेकिन कपड़ा और अन्य कृषि आधारित उत्पाद भी) बढ़ सकते हैं। इसलिए मनुष्य सदा ही गरीबी की हालत में जीने के लिए दंडित किया गया है क्योंकि कृषि उत्पादन की वृद्धि हमेशा ही जनसंख्या की वृद्धि से पीछे रहेगी। जहाँ जनसंख्या का विस्तार ज्यामितीय या गुणोत्तर रूप से (जैसे 2, 4, 8, 16, 32 आदि की शृंखला में) होता है वहीं कृषि उत्पादन में वृद्धि गणितीय या समांतर रूप से (जैसे 2, 4, 6, 8, 10 आदि की तरह) होती है। चूँकि जनसंख्या की वृद्धि की दर भरण-पोषण के संसाधनों के उत्पादन में होने वाली वृद्धि की दर से सदा आगे रहती है, इसीलिए समृद्धि को बढ़ाने का एक ही तरीका है कि जनसंख्या की वृद्धि को नियंत्रित किया जाए। दुर्भाग्यवश,

बॉक्स 2.1

"जनसंख्या की शक्ति पृथ्वी द्वारा मनुष्य के भरण-पोषण के लिए उत्पादन करने की उसकी शक्ति से इतनी अधिक होती है कि मानव प्रजाति को किसी-न-किसी रूप में असामयिक मृत्यु का सामना करना ही होगा। मनुष्यों के दुर्गुण ही जनसंख्या को घटाने के सक्रिय और सक्षम कारक होते हैं। वे विनाश की विशाल सेना में अग्रणी होते हैं और अकसर यह भयंकर कार्य स्वयं ही संपन्न कर देते हैं। लेकिन यदि वे अपने इस विनाशकारी संग्राम में असफल हो जाते हैं तो फिर बीमारियाँ, महामारियाँ, घातक रोग और प्लेग आदि भयंकर रूप में उनका स्थान ले लेते हैं और हजारों-लाखों लोगों का सफाया कर देते हैं। फिर भी यदि उन्हें अपनी विनाशलीला में पूरी सफलता नहीं मिलती तो व्यापक विनाशकारी अकाल उनकी सहायता के लिए आ धमकता है और अपने घातक वज्रपात से चोट पहुँचाकर बस उतने ही लोगों को जिंदा छोड़ता है जिनके लिए दुनिया में खाद्य सामग्री पर्याप्त मात्रा में होती है।"

थॉमस रोबर्ट माल्थस, ऐन एस्से ऑन द प्रिंसिपल ऑफ़ पॉपुलेशन, 1798

थॉमस रोबर्ट माल्थस
(1766-1834)

माल्थस ने कैंब्रिज में शिक्षा प्राप्त की थी और ईसाई पादरी बनने का प्रशिक्षण लिया था। बाद में उन्हें लंदन के पास हैलीबरी में स्थित ईस्ट इंडिया कंपनी कॉलेज में इतिहास और राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में नियुक्त किया गया था। ईस्ट इंडिया कंपनी का यह कॉलेज उस समय की प्रशासनिक भारतीय सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) के भावी अधिकारियों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र था।

मनुष्यों में अपनी जनसंख्या को स्वेच्छापूर्वक घटाने की एक सीमित क्षमता ही होती है (कृत्रिम निरोधों (Preventive Checks) द्वारा जैसे कि बड़ी उम्र में विवाह करके या यौन संयम रखकर अथवा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सीमित संख्या में बच्चे पैदा किए जाएँ)। माल्थस का विश्वास था कि अकालों और बीमारियों के रूप में जनसंख्या वृद्धि को रोकने के प्राकृतिक निरोध (Positive Checks) अनिवार्य होते हैं क्योंकि वे ही खाद्य आपूर्ति और बढ़ती हुई जनसंख्या के बीच असंतुलन को रोकने के प्राकृतिक उपाय हैं।

माल्थस का यह सिद्धांत एक लंबे समय तक प्रभावशाली रहा। लेकिन कुछ विचारकों ने इसका विरोध भी किया, जो यह मानते थे कि आर्थिक संवृद्धि जनसंख्या वृद्धि से अधिक हो सकती है। तथापि, उनके सिद्धांत का सबसे प्रभावकारी खंडन यूरोपीय देशों के ऐतिहासिक अनुभव द्वारा प्रस्तुत किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जनसंख्या वृद्धि का स्वरूप बदलने लगा और बीसवीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश के अंत तक यह परिवर्तन नाटकीय ढंग से हुआ। जन्म दरें घट गई और महामारियों के प्रकोप पर नियंत्रण किया जाने लगा। माल्थस की भविष्यवाणियाँ झूठी साबित कर दी गईं क्योंकि जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के बावजूद, खाद्य उत्पादन और जीवन स्तर लगातार उन्नत होते गए।

उदारवादी और मार्क्सवादी विद्वानों ने भी माल्थस के इस विचार की आलोचना की कि गरीबी का कारण जनसंख्या वृद्धि है। आलोचकों का कहना था कि गरीबी और भुखमरी जैसी समस्याएँ जनसंख्या वृद्धि की बजाय आर्थिक संसाधनों के असमान वितरण के कारण फैलती हैं। एक अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के कारण ही कुछ थोड़े-से धनवान और विशेषाधिकार संपन्न लोग विलासमय जीवन का आनंद लेते हैं और बहुसंख्यक लोगों को गरीबी की हालत में जीना पड़ता है।

क्रियाकलाप 2.1

पिछले पृष्ठ पर दिए गए अनुभाग और बॉक्स 2.1 में माल्थस के उद्धरण को पढ़िए। माल्थस के गलत साबित होने का एक कारण यह था कि **कृषि की उत्पादकता** में बहुत अधिक वृद्धि हो गई। वे कौन-से कारक थे जिनकी वजह से उत्पादकता बढ़ गई? क्या आप इन कारकों का पता लगा सकते हैं? माल्थस के गलत साबित होने के कुछ अन्य कारण क्या हो सकते हैं? इस विषय पर अपने सहपाठियों से चर्चा करें और अपने अध्यापक की सहायता से इन कारकों की सूची बनाएँ।

जनसांख्यिकीय संक्रमण का सिद्धांत

जनसांख्यिकीय विषय में एक अन्य उल्लेखनीय सिद्धांत है: जनसांख्यिकीय संक्रमण का सिद्धांत। इसका तात्पर्य यह है कि जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास के समग्र स्तरों से जुड़ी होती है एवं प्रत्येक समाज विकास से संबंधित जनसंख्या वृद्धि के एक निश्चित स्वरूप का अनुसरण करता है। जनसंख्या वृद्धि के तीन बुनियादी चरण होते हैं। पहला चरण है समाज में जनसंख्या वृद्धि का कम होना क्योंकि समाज अल्पविकसित और तकनीकी दृष्टि से पिछड़ा होता है। वृद्धि दरें इसलिए कम होती हैं क्योंकि मृत्यु दर और जन्म दर दोनों ही बहुत ऊँची होती हैं इसलिए दोनों के बीच का अंतर (यानी शुद्ध वृद्धि दर) नीचा रहता है। तीसरे (और अंतिम) चरण में भी विकसित समाज में जनसंख्या वृद्धि दर नीची रहती है क्योंकि ऐसे समाज में मृत्यु दर और जन्म दर दोनों ही काफ़ी कम हो जाती हैं और उनके बीच अंतर बहुत कम रहता है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच एक तीसरा संक्रमणकालीन चरण होता है जब समाज पिछड़ी अवस्था से उन्नत अवस्था में जाता है और इस अवस्था की विशेषता यह है कि इस दौरान जनसंख्या वृद्धि की दरें बहुत ऊँची हो जाती हैं।

यह 'जनसंख्या विस्फोट' इसलिए होता है क्योंकि मृत्यु दर, रोग नियंत्रण, जनस्वास्थ्य और बेहतर पोषण के उन्नत तरीकों के द्वारा अपेक्षाकृत तेज़ी से नीचे ला दी जाती है। लेकिन समाज को इस आपेक्षिक समृद्धि की स्थिति और पहले से अधिक लंबी जीवन अवधियों के अनुरूप अपने आपको ढालने और अपने प्रजननात्मक व्यवहार को (जो उसकी गरीबी और ऊँची मृत्यु दरों की हालत में विकसित हो गया था) बदलने में काफ़ी लंबा समय लगता है। इस प्रकार का संक्रमण पश्चिमी यूरोप में 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों और 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में हुआ था। अपेक्षाकृत कम विकसित देशों में भी, जो गिरती हुई मृत्यु दरों के अनुसार अपने यहाँ जन्म दर घटाने के लिए संघर्षशील रहे हैं कमोबेश ऐसे ही तरीके अपनाए गए हैं। भारत में भी जनसांख्यिकीय संक्रमण अभी तक पूरा नहीं हुआ है क्योंकि यहाँ मृत्यु दर कम कर दी गई है पर जन्म दर उसी अनुपात में नहीं घटाई जा सकी है।

सामान्य संकल्पनाएँ एवं संकेतक

अधिकांश जनसांख्यिकीय संकल्पनाओं को दरों या अनुपातों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, उनमें दो संख्याएँ शामिल होती हैं। इन संख्याओं में से एक खास आँकड़ा होता है जिसकी गणना एक विशिष्ट भौगोलिक-प्रशासनिक इकाई के लिए की जाती है; और दूसरी संख्या तुलना के लिए मानक का काम देती है। उदाहरण के लिए, जन्म दर दर्शाने के लिए किसी एक विशेष क्षेत्र में (जो एक पूरा देश, एक राज्य, एक जिला अथवा अन्य कोई प्रादेशिक इकाई हो सकता है), एक निर्धारित अवधि के दौरान (जो आमतौर पर एक वर्ष की होती है) हुए जीवंत-जन्मों यानी जीवित उत्पन्न हुए बच्चों की कुल संख्या को उस क्षेत्र में हज़ार की इकाइयों में अभिव्यक्त कुल जनसंख्या से भाग दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, जन्म दर प्रति एक हज़ार की जनसंख्या के पीछे जीवित उत्पन्न हुए बच्चों की संख्या होती है। इसी प्रकार मृत्यु दर भी एक ऐसा ही आँकड़ा है जो किसी एक क्षेत्र-विशेष में एक निर्धारित अवधि के दौरान हुई मृत्यु की संख्या के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। ये आँकड़े संबंधित परिवारों द्वारा उनके यहाँ हुए जन्म या मृत्यु के

मामलों की सूचना दिए जाने पर निर्भर करते हैं। वस्तुत: अधिकांश देशों में, जिनमें भारत भी एक है, लोगों को उनके यहाँ हुए जन्म या मृत्यु के बारे में कानूनन उपयुक्त प्राधिकरण को सूचना देनी होती है। यह उपयुक्त प्राधिकरण गाँवों के मामलों में पुलिस थाना या प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र होता है और कस्बों तथा शहरों के मामले में वहाँ का संबंधित नगरपालिका का कार्यालय।

प्राकृतिक वृद्धि दर या जनसंख्या संवृद्धि दर का तात्पर्य है जन्म दर और मृत्यु दर के बीच का अंतर। जब यह अंतर शून्य (अथवा व्यावहारिक रूप से बहुत कम, नगण्य) होता है तब हम यह कह सकते हैं कि जनसंख्या 'स्थिर' हो गई है या वह 'प्रतिस्थापन स्तर' पर पहुँच गई है। यह एक ऐसी अवस्था होती है जब जितने बूढ़े लोग मरते हैं उनका खाली स्थान भरने के लिए उतने ही नए बच्चे पैदा हो जाते हैं। कभी-कभी कुछ समाजों को ऋणात्मक संवृद्धि दर की स्थिति से भी गुजरना होता है; अर्थात् उनका प्रजनन शक्ति स्तर प्रतिस्थापन दर से नीचा रहता है। आज विश्व में कई ऐसे देश और क्षेत्र हैं जहाँ ऐसी स्थिति है जैसे, जापान, रूस, इटली एवं पूर्वी यूरोप। दूसरी ओर, कुछ समाजों में जनसंख्या संवृद्धि दर बहुत ऊँची हो जाती है विशेष रूप से उस स्थिति में, जब वे ऊपर वर्णित जनसांख्यिकीय संक्रमण से गुजर रहे होते हैं।

क्रियाकलाप 2.2

यह जानने का प्रयास करें कि जन्मदर मृत्युदर की तुलना में कम क्यों है? कुछ ऐसे कारण हो सकते हैं जो परिवार या दंपति के इस निर्णय को प्रभावित कर सकते हैं कि वे कितने बच्चे पैदा करें? अपने परिवार या पास-पड़ौस के बुजुर्गों से उन संभावित कारणों के बारे में पता कीजिए कि पुराने जमाने में लोग ज्यादा बच्चे क्यों चाहते थे?

प्रजनन दर का अर्थ है बच्चे पैदा कर सकने की आयु (जो आमतौर पर 15 से 49 वर्ष की मानी जाती है) वाली प्रति 1000 स्त्रियों की इकाई के पीछे जीवित जन्में बच्चों की संख्या। लेकिन ऊपर चर्चित अन्य दरों (जन्म तथा मृत्यु दरों) की तरह यह दर भी अशोधित दर ही होती है यानी कि यह संपूर्ण जनसंख्या के लिए मोटे तौर पर एक स्थूल औसत दर होती है और इसमें विभिन्न आयु वर्गों में पाए जाने वाले अंतरों का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। विभिन्न आयु वर्गों के बीच पाया जाने वाला अंतर कभी-कभी संकेतकों के अर्थ को प्रभावित करने में बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इसीलिए जनसांख्यिकीविद् भी आयु विशेष की दरों का हिसाब लगाते हैं। सकल प्रजनन दर से तात्पर्य है ऐसे जीवित जन्म लेने वाले बच्चों की कुल संख्या जिन्हें कोई एक स्त्री जन्म देती यदि वह बच्चे पैदा करने के आयु वर्ग में पूर्णत: जीवित रहती और इस आयु वर्ग के प्रत्येक हिस्से में औसत उतने ही बच्चें पैदा करती जितने कि उस क्षेत्र में आयु विशेष की प्रजनन दरों के अनुसार होने चाहिए। इस बात को कहने का एक दूसरा तरीका यह है कि सकल प्रजनन दर 'स्त्रियों के एक विशेष वर्ग द्वारा उनकी प्रजनन आयु की अवधि के अंत तक पैदा किए गए बच्चों की औसत संख्या के बराबर होती है (प्रजनन आयु की अवधि का अनुमान एक निश्चित अवधि में पाई गई आयु विशेष की दरों के आधार पर लगाया जाता है)' (विसारिया और विसारिया 2003)।

शिशु मृत्यु दर उन बच्चों की मृत्यु की संख्या दर्शाती है जो जीवित पैदा हुए 1000 बच्चों में से एक वर्ष की आयु प्राप्त होने से पहले ही मौत के मुँह में चले जाते हैं। इसी प्रकार, मातृ-मृत्यु दर उन स्त्रियों की संख्या की सूचक है जो जीवित प्रसूति के 1000 मामलों में अपने बच्चे को जन्म देते समय मृत्यु को प्राप्त हो जाती हैं। शिशु और मातृ-मृत्यु की ऊँची दरें निसंदेह पिछड़ेपन और गरीबी की सूचक होती हैं। जब समाज विकास के पथ पर अग्रसर होता है तो ये दरें तेजी से घटने लगती हैं क्योंकि तब चिकित्सा सुविधाओं और शिक्षा, जागरूकता तथा समृद्धि के स्तरों में वृद्धि होती जाती है। एक अन्य संकल्पना जो कुछ भ्रामक है वह है आयु संभाविता। यह इस बात की सूचक है कि एक औसत व्यक्ति अनुमानत: कितने

वर्षों तक जीवित रहेगा। इसकी गणना किसी क्षेत्र-विशेष में एक निश्चित अवधि के दौरान एक आयु विशेष में मृत्यु दर संबंधी आँकड़ों के आधार पर की जाती है।

स्त्री-पुरुष अनुपात यह बताता है कि किसी क्षेत्र-विशेष में एक निश्चित अवधि के दौरान प्रति 1000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या क्या है। ऐतिहासिक तौर पर, संपूर्ण विश्व में यह पाया गया है कि अधिकांश देशों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा थोड़ी अधिक होती है। इस तथ्य के बावजूद कि कुदरती तौर पर मादा बच्चों की तुलना में नर बच्चे कुछ ज्यादा पैदा होते हैं यानी प्रकृति हर 1000 नर बच्चों के पीछे मोटे तौर पर 943 से 952 तक मादा बच्चे पैदा करती हैं। इस तथ्य के बावजूद, यदि स्त्री-पुरुष अनुपात थोड़ा स्त्रियों के पक्ष में है तो फिर इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला, यह कि शैशवावस्था में बालिका शिशुओं में बालक शिशुओं की अपेक्षा रोग के प्रतिरोध की क्षमता अधिक होती है। जीवन चक्र के दूसरे सिरे पर, अधिकांश समाजों में स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में अधिक वर्षों तक जीवित रहती हैं इसीलिए बूढ़ी स्त्रियों की संख्या बूढ़े पुरुषों से अधिक है। इन दोनों कारणों ने मिलकर स्त्री-पुरुष अनुपात को प्रभावित किया है जिससे अधिकांश संदर्भों में प्रति 1000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या मोटे तौर पर 1050 के आसपास होती है। तथापि, यह देखने में आया है कि चीन, दक्षिण कोरिया और विशेषत: भारत जैसे कुछ देशों में स्त्री-पुरुष अनुपात घटता जा रहा है। इस प्रघटना को वर्तमान सामाजिक मानकों से जोड़ा जा सकता है जिनके अनुसार पुरुषों को स्त्रियों की तुलना में कहीं अधिक महत्त्व दिया जाता है और इसी के परिणामस्वरूप 'बेटे को अधिमान्यता' (अधिक पसंद) दी जाती है और बालिका शिशुओं की उपेक्षा की जाती है।

जनसंख्या की आयु संरचना से तात्पर्य है कि कुल जनसंख्या के विभिन्न आयु वर्गों में व्यक्तियों का अनुपात क्या है। आयु संरचना विकास के स्तरों और औसत आयु संभाविता के स्तरों में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार बदलती रहती है। प्रारंभ में निम्न स्तर की चिकित्सा सुविधाओं, रोगों के प्रकोप और अन्य कई कारणों से जीवन अवधि अपेक्षाकृत कम थी। इसके अलावा, शिशुओं तथा प्रसूताओं की मृत्यु की ऊँची दरें भी आयु संरचना को प्रभावित करती हैं। विकास के साथ-साथ जीवन स्तर में सुधार होता जाता है और उसके कारण आयु की संभाविता भी बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप आयु संरचना में परिवर्तन आता है। छोटी आयु के वर्गों में जनसंख्या के अपेक्षाकृत छोटे हिस्से और बड़ी आयु के वर्गों में बड़े हिस्से पाए जाते हैं। इस स्थिति को जनसंख्या का बूढ़ा होना भी कहा जाता है।

पराश्रितता अनुपात जनसंख्या के पराश्रित और कार्यशील हिस्सों को मापने का साधन है। (पराश्रित वर्ग में ऐसे बुजुर्ग लोग आते हैं जो अपने बुढ़ापे के कारण काम नहीं कर सकते और ऐसे बच्चे भी आते हैं जो इतने छोटे हैं कि काम नहीं कर सकते)। कार्यशील वर्ग में आमतौर पर 15 से 64 वर्ष की आयु के लोग होते हैं। पराश्रितता अनुपात 15 वर्ष से कम और 64 वर्ष से अधिक आयु वर्ग के लोगों की संख्या को 15 से 64 वर्ष के आयु वर्ग के लोगों की संख्या से भाग देने के बाद प्राप्त हुई संख्या के बराबर होता है। यह अनुपात आमतौर पर प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। बढ़ता हुआ पराश्रितता अनुपात उन देशों में चिंता का कारण बन जाता है जहाँ जनता बुढ़ापे की समस्या से जूझ रही होती है क्योंकि वहाँ आश्रितों की संख्या बढ़ जाने से कार्यशील आयु वाले लोगों का अनुपात अपेक्षाकृत छोटा हो जाता है जो आश्रितों का बोझ ढोने में कठिनाई महसूस करता है। दूसरी ओर, गिरता हुआ पराश्रितता अनुपात आर्थिक संवृद्धि और समृद्धि का स्रोत बन सकता है क्योंकि वहाँ कार्यशील लोगों का अनुपात काम न करने वालों की तुलना में अधिक बड़ा होता

है। इसे कभी-कभी जनसांख्यिकीय लाभांश अथवा आयु संरचना के परिवर्तन से प्राप्त होने वाला फ़ायदा कहा जाता है। लेकिन यह लाभ की स्थिति अल्पकालीन होती है क्योंकि कार्यशील आयु वाले लोगों का बड़ा वर्ग आगे चलकर काम न करने वाले बूढ़े लोगों के रूप में बदल जाता है।

2.2 भारत की जनसंख्या का आकार और संवृद्धि

भारत विश्व में चीन के बाद दूसरा सबसे बड़ी जनसंख्या वाला देश है, सन् 2001 की जनगणना के अनुसार इसकी कुल आबादी 103 करोड़ (यानी 1.03 अरब) है। जैसाकि सारणी 1 में देखा जा सकता है भारत की जनसंख्या संवृद्धि दर हमेशा बहुत ऊँची नहीं रही। वर्ष 1901-1951 के बीच औसत वार्षिक संवृद्धि दर 1.33% से अधिक नहीं हुई जो कि एक साधारण संवृद्धि दर कही जा सकती है। सच तो यह है कि 1911 से 1921 के बीच संवृद्धि की दर नकारात्मक यानी ऋणात्मक रूप से -0.03% रही। इसका कारण 1918-19 के दौरान इंफ्लूएंजा महामारी का भीषण तांडव था जिसने लगभग 1.25 करोड़ लोगों यानी देश की कुल जनसंख्या के 5% अंश को मौत के मुँह में ढकेल दिया था (विसारिया और विसारिया 2003: 191)। ब्रिटिश राज से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जनसंख्या संवृद्धि की दर में काफ़ी बढ़ोतरी हुई और वह 1961-1981 के दौरान 2.2% पर पहुँच गई। तब से, यद्यपि वार्षिक संवृद्धि दर में गिरावट तो आई है फिर भी वह विकासशील दुनिया में सबसे ऊँची बनी हुई है। चार्ट 1 में स्थूल जन्म और मृत्यु दरों की तुलनात्मक घट बढ़ दिखाई गई है। जनसांख्किीय संक्रमण की अवस्था का प्रभाव स्पष्ट रूप से आरेख में दिखाया गया है जिससे यह प्रकट होता है कि ये दरें 1921 से 1931 तक के दशक के बाद एक दूसरे से भिन्न दिशा में जाने लगी थीं।

सारणी 1: भारत की जनसंख्या और 20वीं शताब्दी में इसकी संवृद्धि

वर्ष	कुल जनसंख्या (लाखों में)	औसत वार्षिक संवृद्धि दर (%)	दशकीय संवृद्धि दर (%)
1901	238	-	-
1911	252	0.56	5.8
1921	251	-0.03	-0.3
1931	279	1.04	11.0
1941	319	1.33	14.2
1951	361	1.25	13.3
1961	439	1.96	21.5
1971	548	2.22	24.8
1981	683	2.20	24.7
1991	846	2.14	23.9
2001	1028	1.93	21.3

स्रोत: महापंजीयक, भारत, भारतीय जनगणना के विभिन्न वेबपृष्ठों से संकलित, ब्यौरे के लिए संदर्भ देखें

चार्ट 1: भारत में जन्म एवं मृत्यु दरें 1901-2001

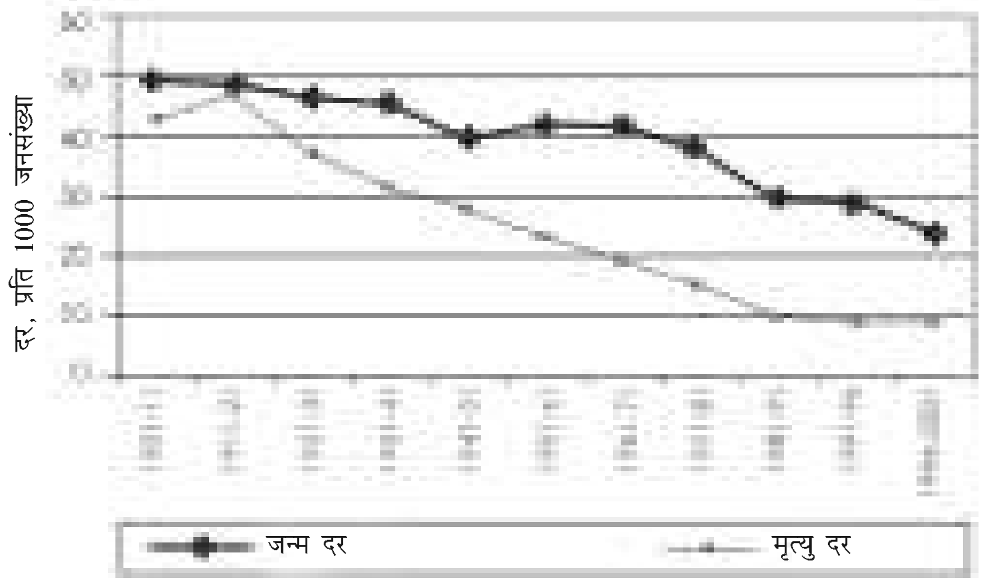

स्रोत: राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग, भारत सरकार
वेबसाइट : http://populationcommission.nic.in/facts1.htm#

1931 से पहले, मृत्यु दरें और जन्म दरें दोनों ही ऊँची रही हैं। इस संक्रमण वर्ष के बाद मृत्यु दरों में तेज़ी से गिरावट आई हैं जबकि जन्म दर थोड़ी-सी गिरी है। 1921 के बाद मृत्यु दर में गिरावट आने का प्रमुख कारण यह था कि अकालों और महामारियों पर नियंत्रण बढ़ गया। इनमें महामारियों की रोकथाम संभवत: अधिक महत्त्वपूर्ण साबित हुई। पहले अनेक प्रकार की महामारियाँ थीं जिनमें विभिन्न प्रकार के ज्वर, प्लेग, चेचक और हैजा अधिक विनाशकारी थे। लेकिन 1918-19 की इंफ्लूएंजा नामक महामारी ने तो अकेले ही देशभर में तबाही मचा दी जिसमें 125 लाख यानी सवा करोड़ लोगों को अर्थात् तत्कालीन भारत की कुल जनसंख्या के लगभग 5% भाग को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। (इस महामारी में हुई मृत्यु के बारे में अलग-अलग अनुमान लगाए गए जिनमें से कुछ के आँकड़े बहुत ऊँचे थे। स्पैनिश फ्लू नामक महामारी अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके संपूर्ण भूमंडल में फैल गई। इस संबंध में बॉक्स 2.2 में दी गई जानकारी पठनीय है। अंग्रेज़ी में 'पैंडेमिक' शब्द एक ऐसी महामारी के लिए उपयोग किया जाता है जो बहुत व्यापक भौगोलिक क्षेत्र को प्रभावित करती है। वहीं 'एपिडेमिक' शब्द को सीमित क्षेत्र में फैली महामारी के लिए उपयोग किया जाता है)।

ऐसी बीमारियों के उपचार में किए गए सुधारों, बड़े पैमाने पर चलाए गए टीकाकरण कार्यक्रमों और व्यापक रूप से संचालित स्वच्छता अभियानों ने महामरियों को नियंत्रित करने में सहायता की। किंतु मलेरिया, क्षय रोग और पेचिश व दस्त की बीमारियाँ आज भी लोगों के लिए जानलेवा बनी हुई हैं हालाँकि, अब उनसे मरने वालों की संख्या उतनी अधिक नहीं होती जितनी पहले महामारी के रूप में उनके प्रकोप के कारण हुआ करती थीं। सूरत नगर सितंबर 1994 में कुछ हद तक प्लेग की महामारी की चपेट में आ गया

बॉक्स 2.2

1918-19 की सार्वभौमिक इंफ्लूएंजा महामारी

इंफ्लूएंज़ा नाम की बीमारी एक विषाणु द्वारा फैलाई जाती है जो मुख्य रूप से श्वसन तंत्र के ऊपरी अवयवों यानी नाक, गला तथा श्वसनी और कभी-कभी फेफड़ों पर भी आक्रमण कर देता है। इंफ्लूएंज़ा के विषाणुओं की जननिक बनावट कुछ ऐसी होती है कि वे अपने आप में छोटे-बड़े जननिक परिवर्तन लाकर स्वयं को मौजूदा टीका-द्रव्यों (वैक्सीन) के असर से उन्मुक्त कर लेते हैं। पिछली शताब्दी में इंफ्लूएंज़ा के विषाणुओं में तीन बार बड़े-बड़े जननिक परिवर्तन आए जिसके परिणामस्वरूप सार्वभौमिक महामारियाँ (पैंडेमिक्स) फैली और अत्यंत विशाल संख्या में लोग इंफ्लूएंज़ा से पीड़ित हुए और मृत्यु का ग्रास बने। इनमें सबसे कुख्यात महामारी ''स्पैनिश फ्लू'' थी जिसने विश्व की जनसंख्या को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया और ऐसा समझा जाता है कि 1918-1919 के दौरान इससे पीड़ित होकर कम-से-कम 4 करोड़ लोग मौत के मुँह में चले गए। इसके बाद अभी कुछ साल पहले ही इंफलूएंजा की महामारी देशव्यापी स्तर पर कई क्षेत्रों में दो बार फैली – 1957 में 'एशियन इंफ्लूएंज़ा' और 1968 में 'हांगकांग इंफ्लूएंज़ा' और उससे विश्वस्तर पर लाखों लोग पीड़ित हुए और मृत्यु का ग्रास बन गए।

1918-19 के स्पैनिश फ्लू से विश्व स्तर पर कुल मिलाकर कितनी मौतें हुई यह ठीक-ठीक बताना संभव नहीं है पर यह अनुमान लगाया जाता है कि संपूर्ण विश्व की कुल जनसंख्या का 20% भाग कुछ हद तक इस महामारी से पीड़ित हुआ और 2.5 से 5% तक मानव जनसंख्या इसकी वजह से नष्ट हो गई। इंफ्लूएंज़ा से पहले 25 सप्ताहों में ही ढाई करोड़ लोगों की मौत हो गई; इसके विपरीत एड्स की बीमारी से पहले 25 वर्ष में ढाई करोड़ लोग मृत्यु को प्राप्त हुए। इंफलूएंजा विश्वभर में फैल गया और इससे छह महीने में 250 लाख से भी अधिक लोगों की मृत्यु हो गई। कुछ अन्य अनुमानों के अनुसार मरने वालों की कुल संख्या इससे दोगुनी से भी अधिक यानी 10 करोड़ तक हो सकती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग 28% जनसंख्या इस महामारी से पीड़ित हुई और उनमें से 5,00,000 से 6,75,000 लोग काल के गाल में चले गए। ब्रिटेन में इससे मरने वालों की संख्या 2,00,000 और फ्रांस में 4,00,000 से भी ज्यादा बताई जाती है। अलास्का और दक्षिणी अफ्रीका में इससे गाँव-के-गाँव तबाह हो गए। आस्ट्रेलिया में इससे 10,000 लोग मरे तथा फीजी द्वीपसमूह में केवल दो सप्ताह में वहाँ की 14% जनसंख्या नष्ट हो गई और पश्चिमी समोआ में 22% लोग मर गए। भारत में अनुमानत: 170 लाख लोग मारे गए यानी तत्कालीन भारत की जनसंख्या का लगभग 5% भाग नष्ट हो गया। ब्रिटिश भारतीय सेना में लगभग 22% सैनिक इस महामारी से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हो गए।

यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध इस फ्लू का प्रत्यक्ष कारण नहीं था, किंतु सैनिकों के साथ-साथ रहने और सामूहिक आवागमन से रोग के फैलाव में तेज़ी आई। यह भी अनुमान लगाया गया है कि लड़ाई के तनावपूर्ण माहौल में रासायनिक आक्रमणों के कारण सैनिकों की रोग से मुकाबला करने की रोग प्रतिरोधक क्षमता कमज़ोर हो गई थी जिसके कारण बीमारी की चपेट में आने की उनकी संभावना बढ़ गई।

स्रोत: विकीपीडिया और विश्वस्वास्थ्य संगठन के वेबपृष्ठों से संकलित
http://en.wikipedia.org/wki/spanish_flu
http://www.who.int/mediacentre/factsheets/fs211/en/

था और 2006 में देश के अनेक भागों में डेंगी और चिकनगुनिया की बीमारी के व्यापक रूप से फैलने की खबरें पढ़ने-सुनने को मिलीं।

अकाल भी बढ़ती हुई मृत्यु दर के एक प्रमुख एवं पुनरावर्तक स्रोत थे। एक जमाना था जब अकाल व्यापक रूप से और बार-बार पड़ते थे। उन दिनों अकाल पड़ने के कई कारण होते थे जिनमें से एक यह था कि जिन इलाकों में खेती वर्षा पर निर्भर रहती थी वहाँ वर्षा की कमी के कारण खेती की उपज कम होती थी जिससे लोग घोर गरीबी और कुपोषण की हालत में जीवन बिताने को मजबूर हो जाते थे। इसके अलावा, परिवहन और संचार के साधनों की समुचित व्यवस्था न होने के कारण और राज्य की ओर से इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न न किए जाने के कारण भी अकाल पड़ते थे। किंतु, जैसाकि अमर्त्य सेन एवं अनेक विद्वानों ने दर्शाया है कि अकाल अनाज के उत्पादन में गिरावट आने के कारण ही नहीं पड़े बल्कि 'हकदारी की पूर्ति का अभाव' (failure of entitlements), अथवा भोजन खरीदने या और किसी तरह से प्राप्त करने की लोगों की अक्षमता के कारण भी अकाल पड़ते रहे हैं। लेकिन अब भारतीय कृषि की उत्पादकता में (विशेष रूप से सिंचाई के विस्तार के कारण) पर्याप्त वृद्धि हो जाने, संचार के साधनों में सुधार हो जाने और सरकार द्वारा अधिक तेज़ी से राहत और निरोधक उपाय किए जाने से अकाल के कारण होने वाली मौतों की संख्या में बहुत तेज़ी से कमी आई है। किंतु आज भी देश के कुछ पिछड़े क्षेत्रों से भुखमरी के कारण लोगों के मरने के समाचार मिलते रहते हैं। सरकार ने अभी कुछ समय पहले ही ग्रामीण इलाकों में भूख और भुखमरी की समस्या के समाधान के लिए राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी अधिनियम (National Rural Employment Guarantee Act) नामक एक कानून बनाया है।

हालाँकि मृत्यु दर में तो काफ़ी तेज़ी से गिरावट आई है पर जन्म दर में उतनी तेज़ी से गिरावट नहीं आई। इसका कारण यह है कि जन्म दर एक ऐसी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रघटना है जिसमें परिवर्तन अपेक्षाकृत धीमी गति से आता है। सामान्यत: समृद्धि का बढ़ता स्तर जन्म दर को मजबूती से नीचे खींचता है। जब एक बार शिशु मृत्यु दरों में गिरावट आ जाती है और शिक्षा और जागरूकता के स्तरों में भी कुल मिलाकर वृद्धि हो जाती है तो फिर परिवार का आकार छोटा होने लगता है। जैसा कि चार्ट 2 में देखा जा सकता है भारत के राज्यों के बीच प्रजनन दरों के मामले में अत्यधिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। केरल और तमिलनाडु जैसे कुछ राज्य कुल प्रजनन दरों को क्रमश: 2.1 और 1.8 तक नीचे लाने में सफल हुए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि तमिलनाडु में औसत स्त्री 2.1 बच्चे ही पैदा करती है जो कि प्रतिस्थापन स्तर के बराबर है (यानी इसके अनुसार वह अपनी और अपने जीवन साथी की मृत्यु के कारण खाली होने वाले स्थान की पूर्ति कर देगी)। केरल की कुल प्रजनन दर वास्तव में प्रतिस्थापन स्तर से नीचे है जिसका तात्पर्य यह होगा कि भविष्य में जनसंख्या में गिरावट आ जाएगी। बहुत-से अन्य राज्यों (जैसे, हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, महाराष्ट्र) की कुल प्रजनन दरें काफ़ी कम हैं। लेकिन कुछ राज्य, खासतौर पर बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश ऐसे हैं जहाँ आज भी प्रजनन दरें 4 या उससे भी ऊपर हैं। वर्ष 2001 की जनगणना में इन थोड़े राज्यों का कुल मिलाकर हिस्सा लगभग 45% था और वर्ष 2026 तक यह राज्य भारत की जनसंख्या में होने वाली लगभग आधी (50%) बढ़ोतरी के लिए जिम्मेदार होंगे। उस बढ़ोतरी में अकेले उत्तर प्रदेश का हिस्सा चौथाई से थोड़ा-सा कम (यानी 22%) होने की उम्मीद है। चार्ट 3 में यह दर्शाया गया है कि भारत की कुल जनसंख्या संवृद्धि में राज्यों के भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय समूहों का आपेक्षिक हिस्सा कितना-कितना होगा।

चार्ट 2: भारत में राज्यवार जन्म दरें, 2004

स्रोत: प्रदर्श पंजीकरण प्रणाली 2004

चार्ट 3: वर्ष 2026 तक प्रक्षेपित जनसंख्या के क्षेत्रवार हिस्से

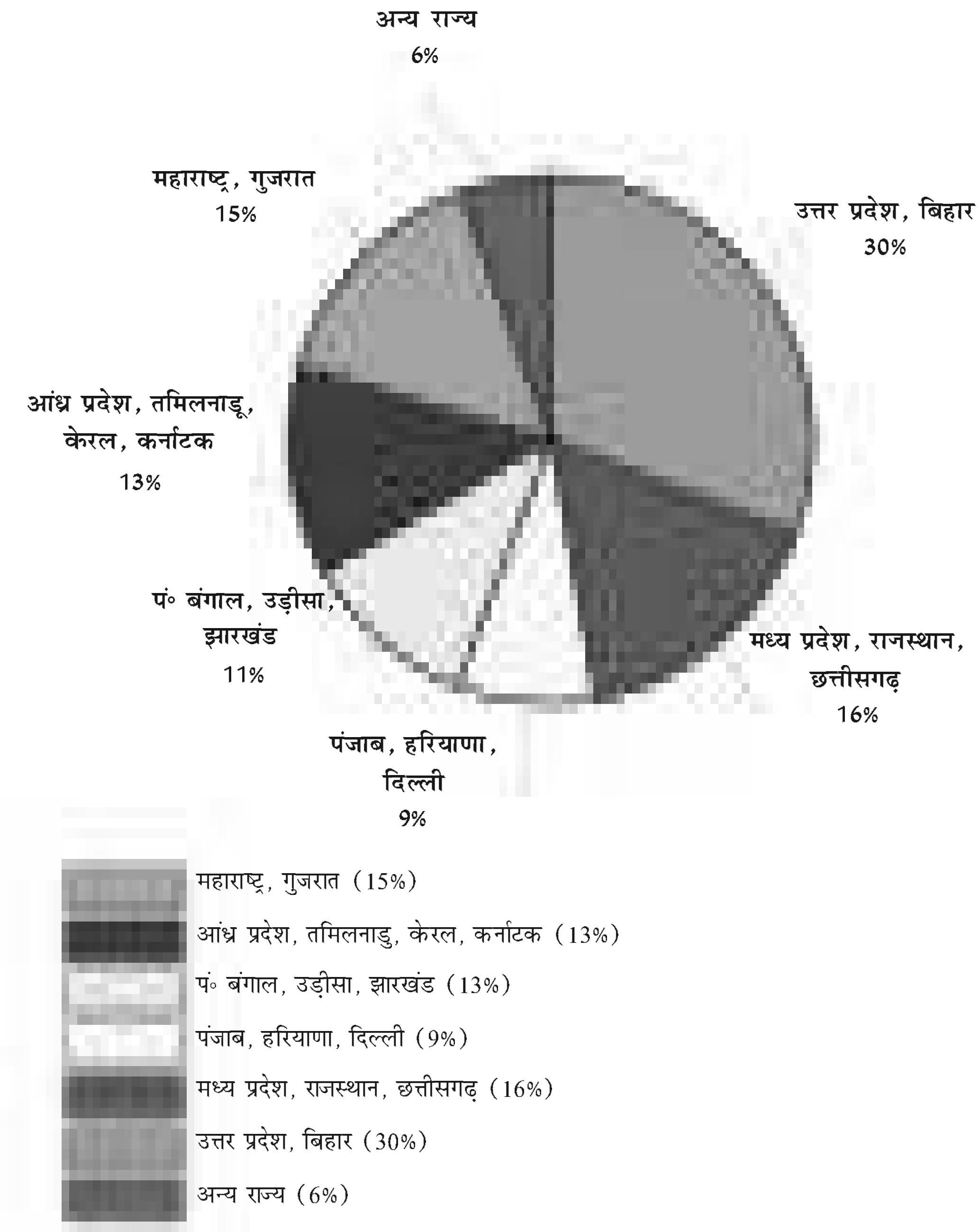

स्रोत: 2001 के जनगणना आँकड़ों और राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग, 2006 के जनसंख्या प्रक्षेप विषयक तकनीकी समूह की रिपोर्ट के आँकड़ों पर आधारित

2.3 भारतीय जनसंख्या की आयु संरचना

भारत की जनसंख्या बहुत जवान है यानी अधिकांश भारतीय युवावस्था में हैं और यहाँ की आयु का औसत भी अधिकांश अन्य देशों की तुलना में कम है। सारणी 2 दर्शाती है कि देश की संपूर्ण जनसंख्या में 15 वर्ष से कम आयु वाले वर्ग का हिस्सा जो 1971 में 42% के सर्वोच्च स्तर पर था घटकर 2001 में 35% के स्तर पर आ गया है। 15–60 के आयु वर्ग का हिस्सा 53% से कुछ बढ़कर 59% हो गया है जबकि 60 वर्ष से ऊपर की आयु वाले वर्ग का हिस्सा बहुत छोटा है लेकिन वह उसी अवधि के दौरान (5% से 7% तक) बढ़ना शुरू हो गया है। लेकिन अगले दो दशकों में भारतीय जनसंख्या की आयु संरचना में काफ़ी परिवर्तन आने की उम्मीद है और यह परिवर्तन अधिकांशतः आयु क्रम के दोनों सिरों पर आएगा। जैसाकि सारणी 2 में दिखाया गया है 0–14 आयु वर्ग का हिस्सा लगभग 11% घट जाएगा (यह 2001 में 34% था जो 2026 में घटकर 23% हो जाएगा) जबकि 60 वर्ष से अधिक के आयु वर्ग में लगभग 5% की वृद्धि होगी (यह 2001 के 7% से बढ़कर 2026 में 12% हो जाएगा)। चार्ट 4 में 'जनसंख्या पिरामिड' का 1961 से लेकर 2016 तक का प्रक्षेपित स्वरूप दिखाया गया है।

सारणी 2 : भारत की जनसंख्या की आयु संरचना, 1961–2026

वर्ष	*आयु वर्ग*			जोड़
	0–14 वर्ष	***15–59 वर्ष***	***60 वर्ष से अधिक***	
1961	41	53	6	100
1971	42	53	5	100
1981	40	54	6	100
1991	38	56	7	100
2001	34	59	7	100
2011	29	63	8	100
2026	23	64	12	100

टिप्पणी: आयु वर्ग के खानों में उनके हिस्सों का प्रतिशत दिया गया है, हो सकता है कि कहीं पूर्णाकन के कारण इन प्रतिशतांशों का जोड़ 100 न हो।

स्रोत: राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग के जनसंख्या प्रक्षेप विषयक तकनीकी समूह के आँकड़ों (1996 और 2006) पर आधारित
1996 की रिपोर्ट के वेबपृष्ठ *http://populationcommission.nic.in/facts1.htm*

चार्ट 4: आयु समूह पिरामिड, 1961, 1981, 2001 एवं 2026

भारत 1961

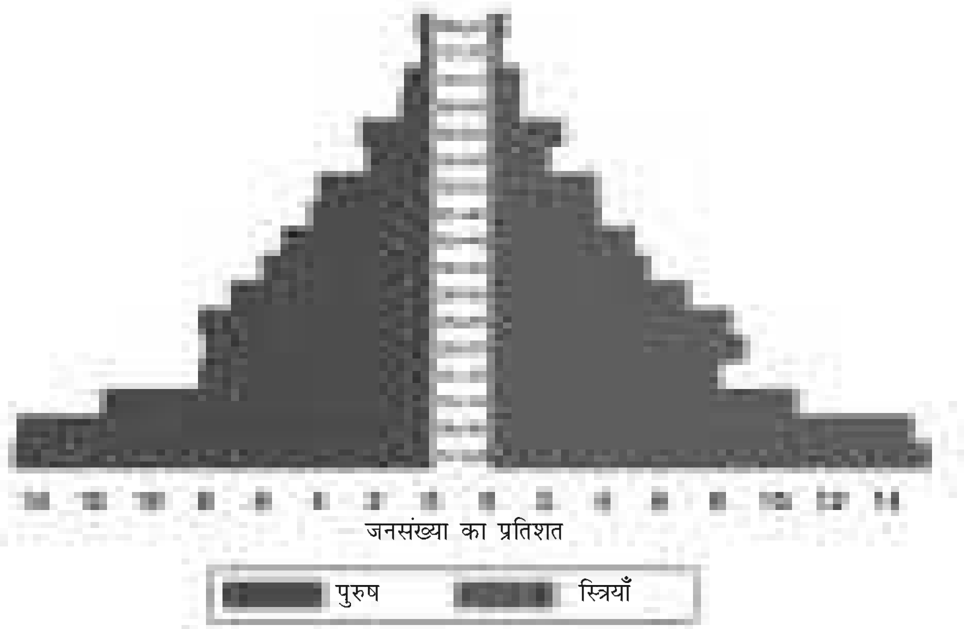

भारत 1981

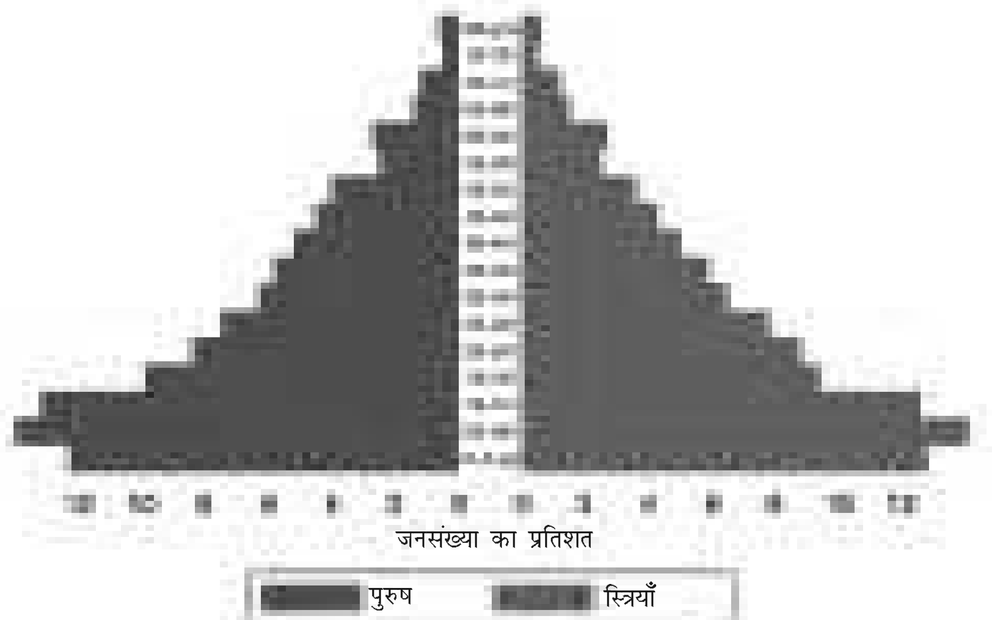

भारत 2001

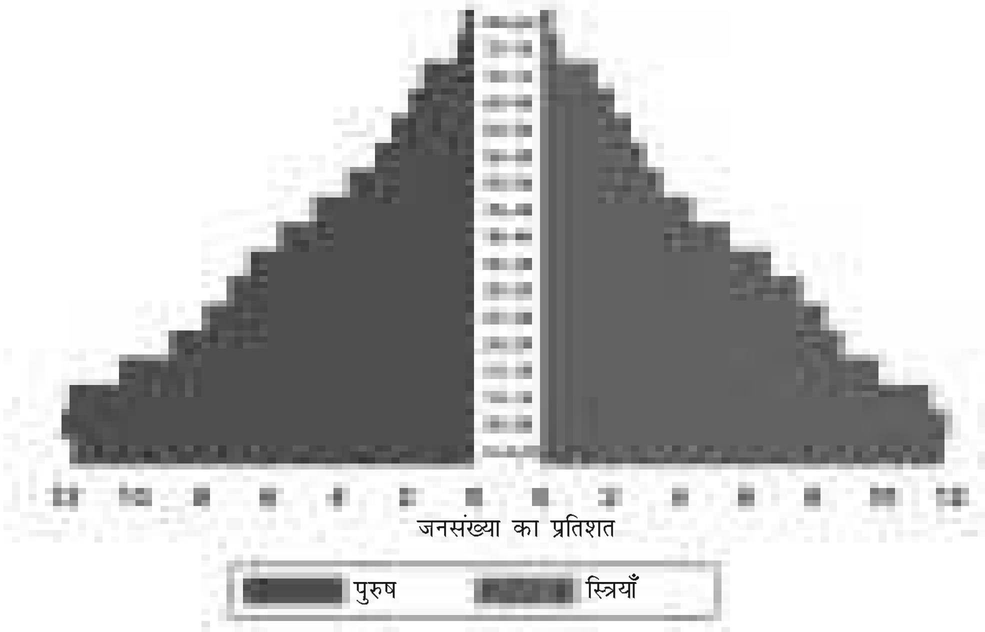

भारत 2026

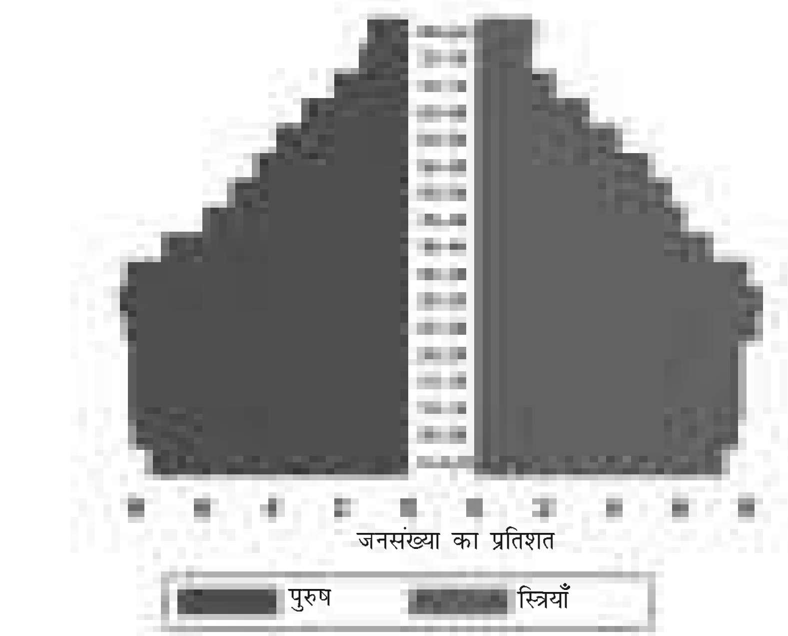

स्रोत: भारतीय जनगणना (1961, 1981 और 2001) के संगत खंडों और राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग के जनसंख्या प्रक्षेप विषयक समूह की रिपोर्ट (2006) पर आधारित

चार्ट 4 के लिए अभ्यास

चार्ट 4 में दिखाए गए आयु समूह पिरामिडों में सारणी 2 में प्रस्तुत आयु समूह संबंधी आँकड़ों के अधिक विस्तृत ब्यौरे दिए गए हैं। इन पिरामिडों में पुरुषों के लिए (बाईं ओर) और स्त्रियों के लिए (दाहिनी ओर) अलग-अलग आँकड़े दिए गए हैं और उनके बीच में संबद्ध पंचवर्षीय आयु समूह दिखाए गए हैं। समस्तरीय छड़ों (Horizontal bars) पर (जिनमें किसी विशेष आयु समूह के पुरुष और स्त्रियाँ दोनों शामिल हैं) दृष्टिपात करने से आपको जनसंख्या की आयु संरचना का अंदाजा हो जाएगा। पिरामिड में आयु समूह सबसे नीचे 0-4 वर्ष वाले समूह से शुरू होकर सबसे ऊपर 80 वर्ष और उससे अधिक के आयु समूह तक दिए गए हैं जिनमें से तीन पिरामिड 1961, 1981 और 2001 की दसवर्षीय जनगणना की स्थिति को दर्शाते हैं और चौथा पिरामिड 2026 की अनुमानित स्थिति का द्योतक है। 2026 वाला पिरामिड संबंधित आयु समूहों के अनुमानित भावी आकार को दर्शाता है जो प्रत्येक आयु समूह की पुरानी संवृद्धि दरों के आँकड़ों पर आधारित है। ऐसे अनुमानों को 'प्रक्षेप' भी कहा जाता है। यह पिरामिड जन्म दर में आई क्रमिक गिरावट और आयु संभाविता में हुई बढ़ोतरी को दर्शाते हैं। जैसे-जैसे अधिकाधिक लोग वृद्धावस्था तक जीवित रहने लगते हैं तो पिरामिड का सबसे ऊपरी हिस्सा चौड़ा होता जाता है और जैसे-जैसे जन्म दर के नए मामले अपेक्षाकृत कम होते जाते हैं पिरामिड का सबसे निचला हिस्सा सँकरा होता जाता है। लेकिन जन्म दर में गिरावट काफ़ी धीमी गति से आती है, इसलिए 1961 से 1981 के बीच पिरामिड के सबसे निचले खंडों में अधिक परिवर्तन नहीं आया। पिरामिड का बीच का हिस्सा बराबर चौड़ा होता जाता है क्योंकि कुल जनसंख्या में इसका हिस्सा बढ़ता जाता है। इससे बीच वाले आयु समूहों में एक 'उभार' बन जाता है जो 2026 के पिरामिड में साफ़ दिखाई देता है। इसी उभार को 'जनसांख्यिकीय लाभांश' कहा जाता है जिसके बारे में इसी अध्याय में आगे चर्चा की जाएगी।

इस चार्ट का सावधानीपूर्वक अध्ययन करें। अपने अध्यापक की सहायता से यह पता लगाने का प्रयत्न करें कि 1961 की नयी पीढ़ी (0-4 आयु समूह) जब आने वाले वर्षों में पिरामिड में ऊपर की ओर बढ़ती जाएगी तो उसकी क्या स्थिति होगी।

- वर्ष 1961 का 0-4 आयु समूह परवर्ती वर्षों के पिरामिडों में कहाँ स्थित होगा?
- जब आप 1961 से 2026 की ओर बढ़ेंगे तो पिरामिड का कौन सा हिस्सा सबसे चौड़ा होगा?
- आपके विचार में वर्ष 2051 और 3001 में पिरामिड का आकार कैसा होगा?

जैसे विभिन्न क्षेत्रों में प्रजनन दरें अलग-अलग होती हैं उसी प्रकार आयु संरचना में भी बहुत अधिक क्षेत्रीय अंतर पाए जाते हैं। एक ओर तो स्थिति यह है कि केरल जैसा राज्य आयु संरचना के मामले में विकसित देशों की स्थिति को प्राप्त करने लगा है, वहीं दूसरी ओर उत्तर प्रदेश की स्थिति बिल्कुल भिन्न है जहाँ अपेक्षाकृत छोटे आयु समूहों में जनसंख्या के अनुपात काफ़ी अधिक है और वृद्धजनों के अनुपात अपेक्षाकृत कम है। कुल मिलाकर भारत की स्थिति लगभग बीच की है क्योंकि यहाँ उत्तर प्रदेश जैसे राज्य भी हैं और केरल जैसे राज्य भी, जिनकी संख्या ज्यादा है। चार्ट 5 में उत्तर प्रदेश और केरल से संबंधित वर्ष 2026 की अनुमानित जनसंख्या के पिरामिड दिखाए गए हैं। केरल और उत्तर प्रदेश के पिरामिडों में सबसे चौड़े भागों की स्थिति के अंतर को ध्यान से देखिए।

चार्ट 5: आयु संरचना पिरामिड, केरल और उत्तर प्रदेश 2026

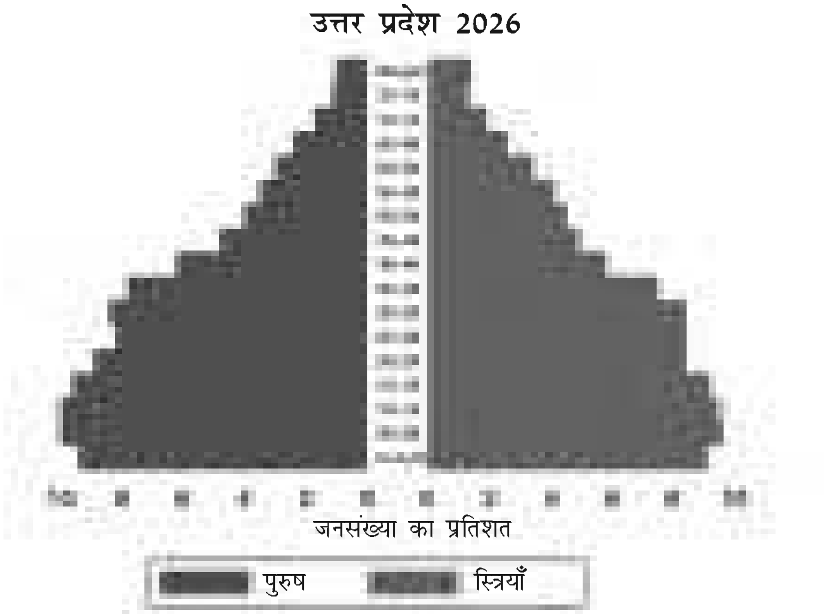

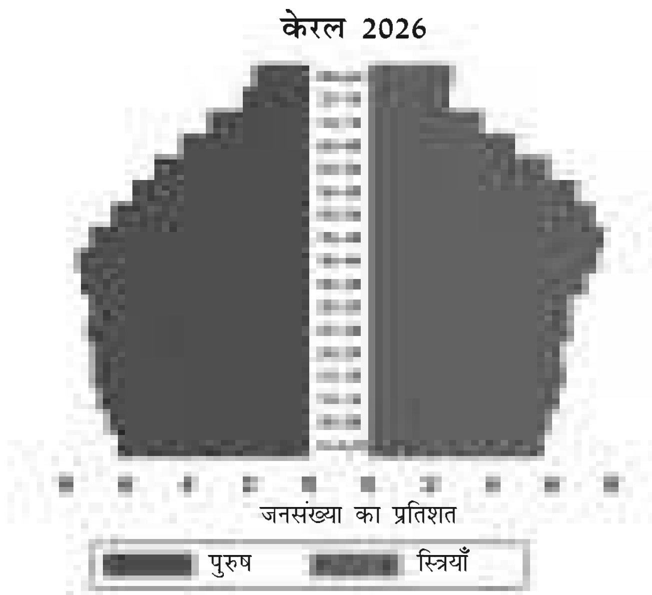

स्रोत: राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग (2006) के जनसंख्या प्रक्षेप विषयक तकनीकी समूह की रिपोर्ट

आयु संरचना में अपेक्षाकृत छोटी आयु के वर्गों की ओर जो झुकाव पाया जाता है उसे भारत के लिए लाभकारी माना जाता है। पिछले दशक में पूर्व एशियाई अर्थव्यवस्थाओं की तरह और आज के आयरलैंड की तरह यह समझा जाता है कि भारत को भी 'जनसांख्यिकीय लाभांश' का फ़ायदा मिल रहा है। यह लाभांश इस तथ्य के कारण मिल रहा है कि कार्यशील लोगों की वर्त्तमान पीढ़ी अपेक्षाकृत बड़ी है एवं उसे वृद्ध लोगों की अपेक्षाकृत छोटी पीढ़ी का भरणपोषण करना पड़ रहा है। लेकिन यह लाभ अपने आप मिलने वाला नहीं है बल्कि इसके लिए उपयुक्त नीतियों का सोच-समझकर पालन करना होगा जैसाकि बॉक्स 2.3 में वर्णन किया गया है।

बॉक्स 2.3

क्या बदलती हुई आयु संरचना भारत को 'जनसांख्यिकीय लाभांश' प्रदान कर रही है?

जनसंख्या की आयु संरचना से जनसांख्यिकीय लाभ या 'लाभांश' इस तथ्य के कारण मिल सकता है कि भारत इस समय विश्व भर में सबसे युवा देशों में से एक है (और आगे भी कुछ समय के लिए रहेगा)। वर्ष 2000 में भारत की जनसंख्या का एक-तिहाई भाग 15 वर्ष की आयु से नीचे था। वर्ष 2020 में भारतीयों की औसत उम्र सिर्फ 29 साल होगी जबकि चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका में औसत आयु 37 वर्ष, पश्चिमी यूरोप में 45 वर्ष और जापान में 48 वर्ष होगी। इसका अर्थ यह होगा कि भारत के पास काफ़ी बड़ा और बढ़ता हुआ श्रमिक बल होगा जो संवृद्धि तथा समृद्धि की दृष्टि से अप्रत्याशित लाभ प्रदान कर सकेगा।

'जनसांख्यिकीय लाभांश' जनसंख्या में काम न करने वाले पराश्रित लोगों की तुलना में कार्यशील यानी कमाने वाले लोगों के अनुपात में वृद्धि के फलस्वरूप प्राप्त होता है। आयु की दृष्टि से, कार्यशील जनसंख्या मोटे तौर पर 15 से 64 वर्ष तक की आयु की होती है। कार्यशील आयु वर्ग स्वयं अपना भरण-पोषण तो करता ही है साथ ही उसे अपने आयु वर्ग से बाहर के आयु वर्ग (यानी बच्चों और वृद्धों) को भी सहारा देना होता है जो स्वयं काम नहीं कर सकते हैं और इसलिए पराश्रित होते हैं। जनसांख्यिकीय संक्रमण आयु संरचना में होने वाले परिवर्तन 'पराश्रितता-अनुपात' को यानी जनसंख्या के अनर्जक (न कमाने वाले) आयु वर्ग और अर्जक यानी कार्यशील आयु वर्ग के बीच के अनुपात को कम कर देते हैं जिससे संवृद्धि होने की संभावना उत्पन्न हो जाती है।

लेकिन इस संभावना को वास्तविक संवृद्धि में तभी बदला जा सकता है जब कार्यशील आयु वर्ग में शिक्षा और रोजगार के स्तरों में भी तदनुरूप वृद्धि होती जाए। यदि श्रमिक बल में शामिल नए लोग शिक्षित नहीं होंगे तो उनकी उत्पादकता नीची रहेगी। यदि वे बेरोजगार रहते हैं तो वे बिल्कुल भी नहीं कमा सकेंगे और कमाने वालों के बजाय पराश्रितों की श्रेणी में शामिल हो जाएँगे। अत: इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि आयु संरचना में परिवर्तन आने से लाभ प्राप्त हो जाएँगे जब तक कि योजनाबद्ध विकास के जरिए उनका ठीक से उपयोग नहीं किया जाए। वास्तविक समस्या तो पराश्रितता अनुपात की परिभाषा को लेकर है। यह प्रत्यय कार्यशील व गैर-कार्यशील आयु वर्गों के अनुपात पर आधारित होता है, न कि रोज़गारी हैसियत पर। मूल बात यह है कि कार्यशील आयु वर्ग का व्यक्ति बेरोज़गार भी हो सकता है। कार्यशील आयु वर्ग और बेरोजगार वर्ग के बीच का अंतर बेरोजगारी व अपूर्णरोज़गारी की स्थिति पर निर्भर है। बेरोजगारी या अपूर्णरोजगारी श्रमिक बल के एक भाग को उत्पादक कार्य से बाहर रखती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्यों कुछ देश जनसांख्यिकीय लाभांश का फ़ायदा उठा सकते हैं जबकि कुछ और देश ऐसा नहीं कर पाते।

क्रियाकलाप 2.3

आपके विचार से आयु संरचना का पीढ़ियों के बीच के संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ता है? उदाहरण के लिए, क्या उच्च पराश्रितता अनुपात युवा एवं बुजुर्ग पीढ़ियों के बीच अधिक तनाव की परिस्थितियाँ पैदा कर सकता है? अथवा क्या यह युवा एवं बुजुर्ग के बीच अधिक घनिष्ठ और नजदीकी संबंध बनाएगा? इन प्रश्नों पर कक्षा में चर्चा करें और कारण बताते हुए अपने निष्कर्षों की सूची तैयार करने का प्रयत्न करें।

निस्संदेह, भारत के सम्मुख जनसांख्यिकीय लाभांश का अवसर द्वार खुला हुआ है। आयु वर्गों के रूप में परिभाषित पराश्रितता अनुपात पर जनसांख्यिकीय प्रवृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। कुल पराश्रितता अनुपात, जो 1970 में 79 था, 2005 में गिरकर 64 पर आ गया है। इस बात की पूरी संभावना है कि यह प्रक्रिया इस शताब्दी में आगे भी जारी रहेगी जिसके परिणामस्वरूप आयु आधारित पराश्रितता अनुपात 2025 में 48 तक गिर सकता है क्योंकि जनसंख्या में बच्चों का अनुपात आगे भी गिरता जाएगा। लेकिन यह पराश्रितता अनुपात फिर बढ़ते हुए 2050 में 50 तक पहुँच जाएगा क्योंकि तब वृद्धजनों के अनुपात में वृद्धि हो जाएगी।

किंतु समस्या रोजगार की है। वर्ष 1999-2000 के राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन के आँकड़ों और भारतीय जनगणना 2001 के आँकड़ों से पता चलता है कि ग्रामीण और नगरीय दोनों प्रकार के इलाकों में रोजगार पैदा करने (काम के नए अवसर उत्पन्न करने) की दर में एक साथ भारी गिरावट आई है। यह स्थिति युवाओं के मामले में भी सही बैठती है। 15-30 वर्ष के आयु वर्ग में रोजगार की वृद्धि की दर 1987 से 1994 के बीच की अवधि में ग्रामीण और नगरीय दोनों इलाकों के पुरुषों के लिए लगभग 2.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। यह 1994 से 2004 के दौरान ग्रामीण पुरुषों के लिए घटकर 0.7 प्रतिशत और नगरीय पुरुषों के लिए घटकर 0.3 प्रतिशत के स्तर पर आ गई। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक युवा श्रमिक बल द्वारा प्रस्तुत श्रम लाभ की संभावना को वास्तविकता में परिवर्तित नहीं किया जा रहा है।

आज भारत के सम्मुख अवसरों का जो जनसांख्यिकीय द्वार खुला है उसका लाभ उठाने के लिए रणनीतियाँ तो मौजूद हैं। लेकिन भारत का हाल का अनुभव यह बताता है कि बाजार की शक्तियाँ स्वयं यह सुनिश्चित नहीं कर पाती कि ऐसी रणनीतियों को कार्यान्वित किया जाएगा। जब तक आगे का कोई रास्ता नजर नहीं आता संभव है कि हम उन संभावित लाभों को गँवा देंगे जो देश की बदलती हुई आयु संरचना फिलहाल हमें देने वाली है।

स्रोतः फ्रंटलाइन के खंड 23, अंक 01, जनवरी 14-27, 2006 में प्रकाशित सी. पी. चंद्रशेखर के लेख से उद्धृत

2.4 भारत में गिरता हुआ स्त्री-पुरुष अनुपात

स्त्री-पुरुष अनुपात जनसंख्या में लैंगिक या लिंग संतुलन का एक महत्त्वपूर्ण सूचक है। जैसाकि ऊपर संकल्पनाओं संबंधी अनुभाग में कहा गया है ऐतिहासिक दृष्टि से, स्त्री-पुरुष अनुपात स्त्रियों के पक्ष में रहा है यानी प्रति 1,000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या आमतौर पर 1,000 से कुछ ऊपर ही रहती आई है। लेकिन जैसाकि सारणी 3 से स्पष्ट होता है भारत में स्त्री-पुरुष अनुपात पिछली एक शताब्दी से कुछ अधिक समय से गिरता जा रहा है। 20वीं शताब्दी के शुरू में भारत में प्रति 1,000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या 972 थी लेकिन 21वीं शताब्दी के शुरू में स्त्री-पुरुष अनुपात घटकर 933 हो गया है। पिछले चार दशकों

सारणी 3: भारत में गिरता हुआ स्त्री-पुरुष अनुपात, 1901-2001

वर्ष	स्त्री-पुरुष अनुपात (सभी आयु वर्गों में)	पिछले दशक की तुलना में अंतर	बाल स्त्री-पुरुष अनुपात (0–6 वर्ष)	पिछले दशक की तुलना में अंतर
1901	972	–	–	–
1911	964	–8	–	–
1921	955	–9	–	–
1931	950	–5	–	–
1941	945	–5	–	–
1951	946	+1	–	–
1961	941	–5	976	–
1971	930	–11	964	–12
1981	934	+4	962	–2
1991	927	–7	945	–17
2001	933	+6	927	–18

टिप्पणी : स्त्री-पुरुष अनुपात को प्रति 1000 पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या के रूप में परिभाषित किया जाता है
स्रोत : भारतीय जनगणना टिप्पणी: 1961 से पहले आयु वर्ग वार स्त्री-पुरुष अनुपात उपलब्ध नहीं है

की प्रवृत्ति खासतौर पर चिंताजनक रही है, 1961 में स्त्री-पुरुष अनुपात 941 था जो घटते हुए अब तक के सबसे नीचे स्तर 927 पर आ गया हालाँकि 2001 में उसमें फिर मामूली सी बढ़ोतरी हुई है।

लेकिन जनसांख्यिकीविदों, नीति-निर्माताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं और इस विषय से जुड़े नागरिकों को वास्तव में जिस तथ्य ने डरा दिया है वह है बच्चों के लैंगिक यानी बाल स्त्री-पुरुष अनुपात में एकाएक आई भारी गिरावट। आयु विशेष से संबंधित स्त्री-पुरुष अनुपात का लेखा-जोखा रखने का काम 1961 में शुरू हुआ था। जैसाकि सारणी 3 में दर्शाया गया है 0-6 आयु वर्ग का स्त्री-पुरुष अनुपात (जिसे बाल स्त्री-पुरुष अनुपात कहा जाता है) आमतौर पर सभी आयु वर्गों के समग्र स्त्री-पुरुष अनुपात से काफ़ी ऊँचा रहता आया है लेकिन अब उसमें बड़ी तेजी से गिरावट आ रही है। वस्तुत: 1991 से 2001 तक के दशक के आँकड़ों में यह असामान्यता दिखाई देती है कि समग्र स्त्री-पुरुष अनुपात में जहाँ अब तक की सबसे अधिक 6 अंकों की बढ़ोतरी (निम्नतम 927 से 933) दर्ज हुई है लेकिन बाल स्त्री-पुरुष अनुपात, 18 अंकों का गोता लगाकर 945 से घटकर 927 के स्तर पर आ गया है और इस प्रकार वह पहली बार समग्र स्त्री-पुरुष अनुपात से नीचे चला गया है।

राज्य स्तरीय बाल स्त्री-पुरुष अनुपात तो चिंता का और भी बड़ा कारण प्रस्तुत करते हैं। कम-से-कम छह राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों का बाल स्त्री-पुरुष अनुपात प्रति 1,000 पुरुष के पीछे 900 स्त्रियों से भी कम है। इस संबंध में पंजाब की स्थिति सबसे खराब है क्योंकि वहाँ का बाल स्त्री-पुरुष अनुपात अविश्वसनीय रूप से 793 है (यही एक ऐसा राज्य है जहाँ यह अनुपात 800 से नीचे है)। पंजाब के बाद हरियाणा, चंडीगढ़, दिल्ली, गुजरात और हिमाचल प्रदेश आते हैं। जैसाकि चार्ट 6 में दिखाया गया है उत्तरांचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र सभी में यह अनुपात 925 से नीचे है जबकि मध्य प्रदेश,

चार्ट 6: राज्यवार बाल स्त्री-पुरुष अनुपात का मानचित्र

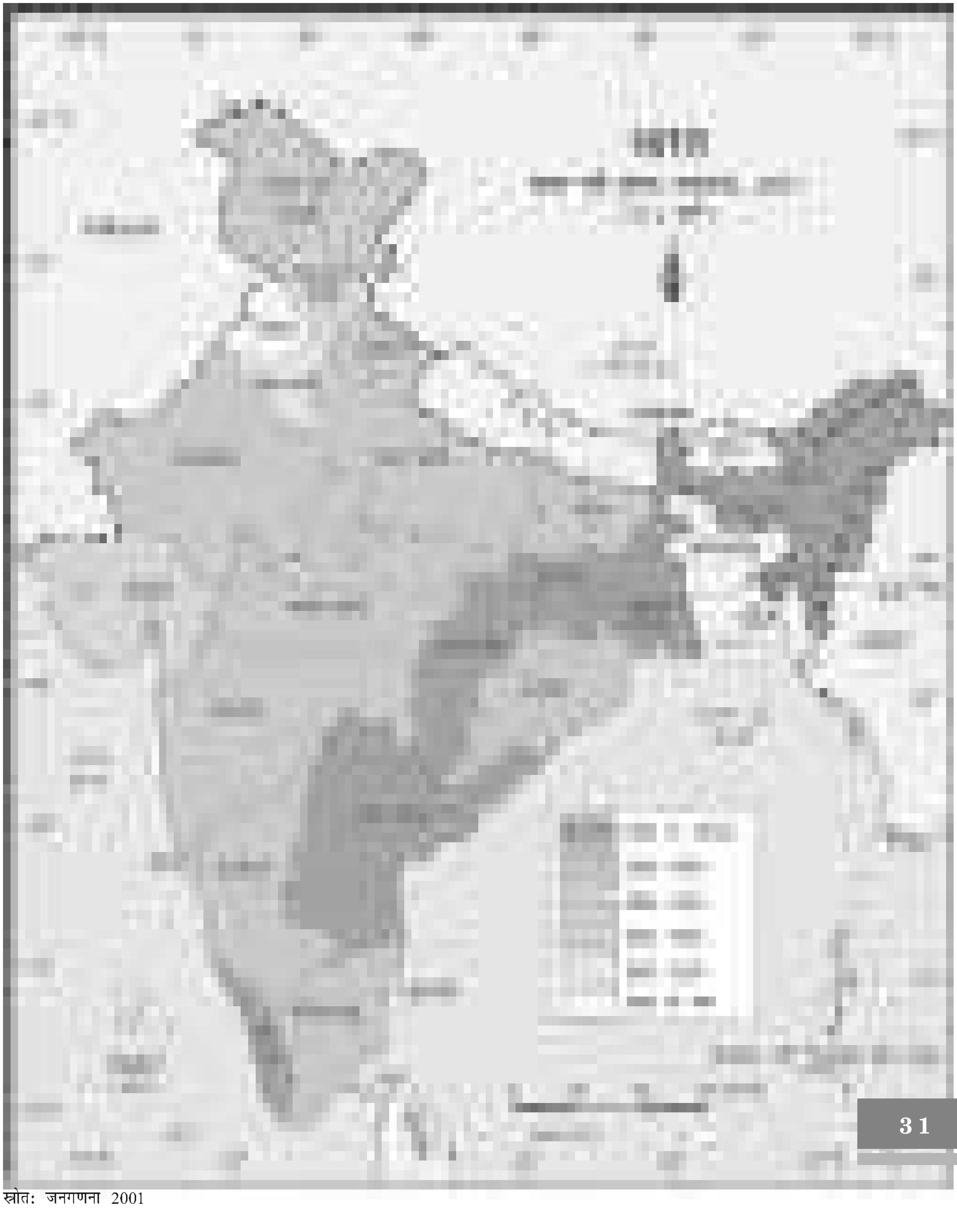

स्रोत: जनगणना 2001

गोवा, जम्मू-कश्मीर, बिहार, तमिलनाडु, कर्नाटक और उड़ीसा में यह अनुपात 927 के राष्ट्रीय औसत से तो ऊपर है पर 950 के स्तर से नीचे है। यहाँ तक कि केरल भी जहाँ का समग्र स्त्री-पुरुष अनुपात सर्वोत्तम रहा है बाल स्त्री-पुरुष अनुपात के मामले में 963 के स्तर पर कोई अच्छी स्थिति में नहीं है जबकि 986 का उच्चतम बाल स्त्री-पुरुष अनुपात सिक्किम में पाया जाता है।

जनसांख्यिकीविदों और समाजशास्त्रियों ने भारत में स्त्री-पुरुष अनुपात में गिरावट आने के कई कारण बताए हैं। स्वास्थ्य संबंधी मुख्य कारक जो पुरुषों की बजाय केवल स्त्रियों को ही प्रभावित करता है वह है स्त्रियों का गर्भधारण करना और फिर बच्चा पैदा करना। इसलिए यह प्रश्न उठना प्रासंगिक है कि क्या स्त्री-पुरुष अनुपात में गिरावट का एक कारण यह हो सकता है कि केवल स्त्रियों को ही बच्चा पैदा करने में मौत की जोखिम उठानी पड़ती है। किंतु, यह माना जाता है कि विकास के साथ मातृ-मृत्यु दर में गिरावट आती है क्योंकि विकास की बदौलत पोषण, सामान्य शिक्षा और जागरूकता के स्तर बढ़ते जाते हैं और साथ ही चिकित्सा और संचार की सुविधाओं की उपलब्धता में सुधार होता जाता है। निस्संदेह, भारत में भी मातृ-मृत्यु दरें घटती जा रही हैं भले ही वे अंतर्राष्ट्रीय मानकों की तुलना में अब भी ऊँची बनी हुई है। इसलिए यह मुश्किल दिखाई देता है कि मातृ-मृत्यु दरों के कारण स्त्री-पुरुष अनुपात की हालत बिगड़ती गई है। एक अन्य तथ्य यह भी है कि बाल स्त्री-पुरुष अनुपात में गिरावट समग्र अनुपातों के मुकाबले अधिक तेज़ी से आई है इसलिए समाजविज्ञानियों का विश्वास है कि इस गिरावट के कारण को बालिका शिशुओं यानी बच्चियों के प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार में खोजना होगा।

बाल स्त्री-पुरुष अनुपात में गिरावट आने के अनेक कारण हैं जैसे, शैशवावस्था में बच्चियों की देखभाल की घोर उपेक्षा, जिससे उनकी मृत्यु दरें ऊँची हो जाती हैं; लिंग-विशेष के गर्भपात जिससे बच्चियों को पैदा ही होने नहीं दिया जाता; और बालिका शिशुओं की हत्या (अथवा धार्मिक या सांस्कृतिक अंधविश्वासों के कारण शैशवावस्था में ही बच्चियों की हत्या)। इनमें से प्रत्येक कारण एक गंभीर सामाजिक समस्या की ओर इशारा करता है और इस बात के कुछ प्रमाण भी मिलते हैं कि ये सब कारण भारत में कार्य करते रहे हैं। अनेक क्षेत्रों में बालिका हत्या की प्रथाएँ प्रचलित बताई जाती है जबकि ऐसी आधुनिक चिकित्सा तकनीकों को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है जिनकी सहायता से

गर्भावस्था की प्रारंभिक स्थितियों में ही यह पता लगाया जा सकता है कि गर्भस्थ शिशु लड़का होगा या लड़की। सोनोग्राम (यानी अल्ट्रासाउंड, प्रौद्योगिकी पर आधारित एक्सरे जैसा नैदानिक उपाय) जो मूल रूप में भ्रूण के जननिक या अन्य विकारों का पता लगाने के लिए विकसित किया गया था अब संभवत: भ्रूण के लिंग का पता लगाने और चयनात्मक आधार पर बालिका भ्रूण को गर्भ में ही नष्ट कर देने के लिए काम में लाया जाने लगा है।

कुछ क्षेत्रों में बाल स्त्री-पुरुष अनुपातों का नीचा स्तर इस तर्क का समर्थन करता प्रतीत होता है। आश्चर्यजनक तथ्य तो यह है कि निम्नतम बाल स्त्री-पुरुष अनुपात भारत के सबसे अधिक समृद्ध क्षेत्रों में पाए जाते हैं। पंजाब, हरियाणा, चंडीगढ़, दिल्ली, गुजरात और महाराष्ट्र प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से भारत के सबसे धनी राज्यों की श्रेणी में आते हैं और ये ही निम्नतम बाल स्त्री-पुरुष अनुपात वाले राज्य हैं। इसलिए चयनात्मक गर्भपातों की समस्या गरीबी या अज्ञान अथवा संसाधनों के अभाव के कारण उत्पन्न नहीं हुई है। उदाहरण के लिए, यदि दहेज प्रथा के कारण माता-पिता को अपनी बेटियों के विवाह में देने के लिए दहेज के रूप में मोटा भुगतान करना पड़े तो समृद्धिशाली और धनाढ्य माता-पिता ऐसा दहेज देने में पूरी तरह समर्थ होंगे। किंतु, देखने में आया है कि सबसे अधिक समृद्धिशाली क्षेत्रों में ही स्त्री-पुरुष अनुपात सबसे नीचा है।

यह भी संभव है कि (हालाँकि अभी इस मुद्दे पर अनुसंधान चल रहा है) आर्थिक दृष्टि से समृद्ध परिवार अपेक्षाकृत कम-अक्सर एक या दो- बच्चे उत्पन्न करना चाहते हैं इसलिए कि वे अपनी पसंद के अनुसार ही लड़का या लड़की पैदा करना चाहेंगे। अल्ट्रासाउंड प्रौद्योगिकी की उपलब्धता के कारण ऐसा करना संभव हो गया है हालाँकि, सरकार ने कठोर कानून बना कर इस पद्धति पर प्रतिबंध लगा दिया है और इस कानून का उल्लंघन करने वाले को भारी जुर्माने और कारावास के दंड का भागी बना दिया है। प्रसवपूर्व नैदानिक प्रविधियाँ (दुरुपयोग का विनियमन और निवारण) अधिनियम नामक यह कानून 1999 से लागू है और इसे 2003 में और अधिक प्रबल बना दिया गया है। तथापि, बालिका बच्चों के विरुद्ध पूर्वाग्रह जैसी समस्याओं का दीर्घकालीन समाधान समाज में उत्पन्न होने वाली अभिवृत्तियों पर अत्यधिक निर्भर करता है हालाँकि नियम एवं कानून भी इसमें मदद कर सकते हैं।

2.5 साक्षरता

शिक्षित होने के लिए साक्षर होना जरूरी है और साक्षरता शक्ति संपन्न होने का महत्त्वपूर्ण साधन हैं। जनसंख्या जितनी अधिक साक्षर होगी आजीविका के विकल्पों के बारे में उसमें उतनी ही अधिक जागरूकता उत्पन्न होगी और लोग ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था में उतना ही अधिक भाग ले सकेंगे। इसके अलावा, साक्षरता से स्वास्थ्य के प्रति भी जागरूकता आती है और समुदाय के सदस्यों की सांस्कृतिक और आर्थिक कल्याण-कार्यों में सहभागिता बढ़ती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद साक्षरता के स्तरों में काफ़ी सुधार आया है एवं हमारी जनसंख्या का दो तिहाई हिस्सा अब साक्षर है। फिर भी साक्षरता दर को, भारत की जनसंख्या संवृद्धि दर के साथ मुकाबला करने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है क्योंकि हमारी जनसंख्या वृद्धि दर अब भी काफ़ी ऊँची बनी हुई है। इसलिए नयी पीढ़ियों को साक्षर बनाने के लिए अवश्य ही अत्यधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है क्योंकि हमारी नयी पीढ़ियाँ संख्या की दृष्टि से पहले के मुकाबले बहुत धीमी गति से कुछ छोटी होती जा रही है। (इसी अध्याय में पहले आयु संरचना और जनसंख्या पिरामिडों के बारे में जो चर्चा की जा चुकी है उसे याद करें)।

विभिन्न क्षेत्रों में स्त्री–पुरुषों तथा सामाजिक समूहों में साक्षरता की दरों में बहुत भिन्नता पाई जाती है। जैसाकि सारणी 4 में देखा जा सकता है स्त्रियों में साक्षरता दर पुरुषों की साक्षरता दर से लगभग 22% कम है। हालाँकि स्त्रियों में साक्षरता पुरुषों के मुकाबले अधिक तेज़ी से बढ़ रही है जिसका एक कारण यह भी है कि स्त्रियों में साक्षरता अपेक्षाकृत अधिक नीचे स्तरों से बढ़नी शुरू हुई है। इस प्रकार स्त्रियों की साक्षरता दर में 1991 से 2001 तक की अवधि में लगभग 15% की दर से वृद्धि हुई जबकि पुरुषों के मामले में सारक्षरता दर 12% से कुछ कम बढ़ी है। विभिन्न सामाजिक समूहों में भी साक्षरता की दरों में अंतर पाया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे सुविधावंचित समुदायों में साक्षरता की दरें नीची रही हैं और इन समुदायों में स्त्रियों की साक्षरता दरें तो और भी नीची हैं। इस मामले में विभिन्न क्षेत्रों के बीच भारी असमानता है; एक ओर जहाँ केरल जैसे कुछ राज्य सर्वजनीन साक्षरता के स्तर की ओर अग्रसर हो रहे हैं वहीं बिहार जैसे कई राज्य इस मामले में बहुत पीछे रह गए हैं। साक्षरता की दर में पाई जाने वाली असमानताएँ इसलिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनकी वजह से पीढ़ियों के बीच भी असमानताएँ उत्पन्न होती हैं। निरक्षर माता-पिता यह सुनिश्चित करने की सुविधा से और ज्यादा वंचित हैं कि उनके बच्चे अच्छी तरह से शिक्षित हैं इसलिए यह असमानताएँ आगे भी शाश्वत रूप से बनी रहती हैं।

सारणी 4: भारत में साक्षरता की दर

(7 वर्ष और उससे अधिक आयु वाली जनसंख्या का प्रतिशत)

वर्ष	व्यक्ति	पुरुष	स्त्रियाँ	साक्षरता दर में स्त्री-पुरुष के बीच का अंतर
1951	18.3	27.2	8.9	18.3
1961	28.3	40.4	15.4	25.1
1971	34.5	46.0	22.0	24.0
1981	43.6	56.4	29.8	26.6
1991	52.2	64.1	39.3	24.8
2001	65.4	75.9	54.2	21.7

स्रोतः बोस (2001:22)

2.6 ग्रामीण-नगरीय विभिन्नताएँ

भारत की अधिकांश जनता हमेशा ही ग्रामीण क्षेत्रों में रहती आई है और यह स्थिति आज भी सही है। 2001 की जनगणना में पाया गया है कि हमारी जनसंख्या का 72% भाग आज भी गाँवों में रहता है और 28% भाग शहरों और कस्बों में। किंतु, जैसाकि सारणी 5 में दिखाया गया है नगरीय जनसंख्या का हिस्सा बराबर बढ़ता जा रहा है जो 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में लगभग 11% था पर अब 21वीं शताब्दी के प्रारंभ में लगभग 28% हो गया है इस प्रकार इसमें लगभग ढाई गुना वृद्धि हुई है। प्रश्न केवल संख्या का ही नहीं है आधुनिक विकास की प्रक्रियाएँ यह सुनिश्चित करती हैं कि कृषि आधारित ग्रामीण जीवन शैली का आर्थिक और सामाजिक महत्त्व उद्योग आधारित नगरीय जीवन शैली के महत्त्व की अपेक्षा घटता रहे। यह तथ्य मोटे तौर पर समस्त विश्व पर ही नहीं बल्कि भारत पर भी लागू होता है।

सारणी 5: ग्रामीण एवं नगरीय जनसंख्या

वर्ष	जनसंख्या (दस लाख में)		कुल जनसंख्या का प्रतिशत	
	ग्रामीण	नगरीय	ग्रामीण	नगरीय
1901	213	26	89.2	10.8
1911	226	26	89.7	10.3
1921	223	28	88.8	11.2
1931	246	33	88.0	12.0
1941	275	44	86.1	13.9
1951	299	62	82.7	17.3
1961	360	79	82.0	18.0
1971	439	109	80.1	19.9
1981	524	159	76.7	23.3
1991	629	218	74.3	25.7
2001	743	286	72.2	27.8

स्रोत: भारत 2006, एक वार्षिक संदर्भ

एक समय में कृषि देश के समग्र आर्थिक उत्पादन में सबसे अधिक योगदान देती थी लेकिन आज सकल घरेलू उत्पाद में उसका योगदान केवल एक-चौथाई रह गया है। यद्यपि हमारी अधिकांश जनता ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है और अपनी आजीविका कृषि से ही चलाती है पर वह जो उत्पादन करते हैं उसका आपेक्षिक आर्थिक मूल्य अत्यधिक घट गया है। यहाँ तक की गाँवों में रहने वाले अधिक से अधिक लोग अब शायद खेती या यहाँ तक की गाँव में काम नहीं करते हैं। ग्रामीण लोग परिवहन सेवा, व्यवसाय या शिल्प-निर्माण जैसे खेती से अलग भिन्न ग्रामीण व्यवसायों को अधिकाधिक अपनाते जा रहे हैं। यदि उनका गाँव किसी नगर के काफ़ी पास हो तो वे गाँव में रहते हुए भी काम करने के लिए रोज़ाना उस निकटतम नगरीय केंद्र में जाते हैं।

रेडियो, टेलीविज़न, समाचारपत्र जैसे जनसंपर्क एवं जनसंचार के साधन अब ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के समक्ष नगरीय जीवन शैली और उपभोग के स्वरूपों की तस्वीरें पेश कर रहे हैं। परिणामस्वरूप, दूरदराज के गाँवों में रहने वाले लोग नगरीय तड़क-भड़क और सुख-सुविधाओं से सुपरिचित हो जाते हैं उनमें भी वैसा ही उपभोगपूर्ण जीवन जीने की लालसा उत्पन्न हो जाती है। जनसंक्रमण और जनसंचार के साधन अब ग्रामीण तथा नगरीय इलाकों के बीच की खाई को पाटते जा रहे हैं। पहले भी, ग्रामीण इलाके बाज़ार की ताकतों की पहुँच से कभी भी अछूते नहीं रहे और आज तो स्थिति यह है कि वे उपभोक्ता बाज़ार के साथ बड़ी घनिष्ठता से जुड़ते जा रहे हैं (बाज़ारों की सामाजिक भूमिका पर अध्याय 4 में चर्चा की जाएगी)।

नगरीय दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो नगरीकरण में हो रही तेज़ संवृद्धि यह दर्शाती है कि कस्बे या शहर ग्रामीण जनता को चुंबक की तरह अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। जिन लोगों को ग्रामीण इलाकों में काम (पर्याप्त काम) नहीं मिलता वे काम की तलाश में शहर चले जाते हैं। गाँवों से नगरों की ओर प्रवसन की गति में इसलिए भी तेज़ी आई है क्योंकि गाँवों में तालाबों, वन प्रदेशों और गोचर भूमियों जैसे साझी संपत्ति के संसाधनों में बराबर कमी आती जा रही है। पहले साझे संसाधनों से गरीब लोग गाँवों में गुज़ारा कर लिया करते थे हालाँकि, उनके पास ज़मीन बहुत कम या बिल्कुल नहीं हुआ करती थी। अब ये संसाधन निजी संपत्ति के रूप में बदल गए हैं अथवा खत्म हो गए हैं। (तालाब-पोखर या तो सूख गए हैं या फिर उनसे पर्याप्त मात्रा में मछली नहीं मिलती, जंगल या तो काट डाले गए हैं या गायब हो गए हैं...)। अब जबकि लोगों के पास ये संसाधन नहीं रहे लेकिन दूसरी ओर उन्हें ऐसी बहुत-सी चीजें जो उन्हें पहले मुफ़्त में मिलती थीं (जैसे, ईंधन, चारा या अन्य अनुपूरक खाद्य वस्तुएँ) अब बाज़ार से खरीदनी पड़ती हैं तो उनकी कठिनाई बढ़ जाती है। कठिनाई की यह हालत इस तथ्य से और भी खराब हो जाती है कि नकद आमदनी कमाने के अवसर गाँवों में कम हो गए हैं।

क्रियाकलाप 2.4

अपने विद्यालय में यह पता लगाने के लिए एक छोटा सा सर्वेक्षण करें कि आपके साथी छात्रों के परिवार कब (यानी कितनी पीढ़ियों पहले) शहर में रहने के लिए आए थे। परिणामों की तालिका बनाकर उनके बारे में कक्षा में चर्चा करें। आपके द्वारा किया गया सर्वेक्षण ग्रामीण-नगरीय प्रवसनों के बारे में आपको क्या बताता है?

कभी-कभी लोग शहरी जीवन को कुछ सामाजिक कारणों से भी पसंद करते हैं जैसे कि शहरों में गुमनामी की ज़िंदगी जी जा सकती है। इसके अलावा, यह तथ्य कि नगरीय जीवन में अपरिचितों से संपर्क होता रहता है कुछ भिन्न कारणों से लाभकारी साबित हो सकता है। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे सामाजिक रूप से पीड़ित समूहों को शहरी रहन-सहन कुछ हद तक रोज़मर्रा की उस अपमानजनक स्थिति से बचाता है जो उन्हें गाँवों में भुगतनी पड़ती है जहाँ हर कोई उनकी जाति से उन्हें पहचानता है। शहरी जीवन की गुमनामी के कारण सामाजिक दृष्टि से प्रभुत्वशाली ग्रामीण समूहों के अपेक्षाकृत गरीब लोग शहर में जाकर कोई भी नीचा समझा जाने वाले काम करने से नहीं हिचकिचाते जिसे वे गाँव में रहते हुए बदनामी के डर से नहीं कर सकते थे। इन सभी कारणों से शहर ग्रामीणों के लिए आकर्षक गंतव्य बन गए हैं। दिन-पर-दिन बढ़ते जा रहे शहर जनसंख्या के इस प्रवाह के प्रमाण हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल में नगरीकरण की तेज़ रफ़्तार से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

जहाँ नगरीकरण की प्रक्रिया बहुत तेज गति से चल रही है इसके अंर्तगत सबसे बड़े शहर-मेट्रोपोलिस-ही सबसे अधिक तेज़ी से फैलते जा रहे हैं। ये महानगर ग्रामीण क्षेत्रों एवं साथ ही साथ छोटे कस्बों के प्रवासियों को अपनी और आकर्षित करते हैं। इस समय, भारत में कुल मिलाकर 5,161 कस्बे और शहर हैं जिनमें 28.60 करोड़ लोग रहते हैं। किंतु आश्चर्यजनक बात यह है कि नगरीय जनसंख्या का दो-तिहाई से भी अधिक भाग 27 बड़े शहरों में रहता है जिनकी आबादी दस लाख से ज्यादा है। स्पष्टत: भारत में अपेक्षाकृत बड़े शहरों की जनसंख्या इतनी तेज़ी से बढ़ रही है कि नगरीय आधारभूत सुविधाएँ उतनी तेज़ी से शायद ही बढ़ सकें। इन शहरों पर जनसंचार के माध्यमों का ध्यान प्रमुख रूप से अधिक केंद्रित रहने से भारत का सार्वजनिक चेहरा, ग्रामीण की बजाय अधिकाधिक नगरीय होता जा रहा है। तथापि, देश में राजनीतिक शक्ति प्रदान करने की प्रक्रिया में ग्रामीण इलाके आज भी निर्णायक भूमिका अदा करते हैं।

2.7 भारत की जनसंख्या नीति

इस अध्याय में की गई चर्चा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जनसंख्या की गतिशीलता एक महत्त्वपूर्ण विषय है और यह एक राष्ट्र के विकास की संभावनाओं को और वहाँ की जनता के स्वास्थ्य और कल्याण को निर्णायक रूप से प्रभावित करती है। यह विशेष रूप से उन विकासशील देशों के मामले में अधिक सही है जिन्हें इस संबंध में विशेष चुनौतियों का सामना करता पड़ता है। इसलिए यह कोई आश्यर्चजनक बात नहीं है कि भारत पिछले पचास साल से भी अधिक समय से एक अधिकारिक जनसंख्या नीति का पालन करता रहा है। वास्तव में, भारत ही संभवत: ऐसा पहला देश था जिसने 1952 में अपनी जनसंख्या नीति की स्पष्ट घोषणा कर दी थी।

हमारी जनसंख्या नीति ने राष्ट्रीय परिवार नियोजन कार्यक्रम के रूप में एक ठोस रूप धारण किया। इस कार्यक्रम के उद्देश्य मोटे तौर पर समान रहे हैं – जनसंख्या संवृद्धि की दर और स्वरूप को प्रभावित करके सामाजिक दृष्टि से वांछनीय दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न करना। प्रारंभिक दिनों में, इस कार्यक्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था : जन्म नियंत्रण के विभिन्न उपायों के माध्यम से जनसंख्या संवृद्धि की दर को धीमा करना, जन-स्वास्थ्य के मानक स्तरों में सुधार करना और जनसंख्या तथा स्वास्थ्य संबंधी मुद्दों के बारे में आम लोगों की जागरूकता बढ़ाना। पिछले लगभग पचास वर्षों में भारत ने जनसंख्या के क्षेत्र में अनेक उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हासिल की हैं जिनका संक्षिप्त ब्यौरा बॉक्स 2.4 में दिया गया है।

राष्ट्रीय आपातकाल की अवधि (1975-76) में परिवार नियोजन के कार्यक्रम को गहरा धक्का लगा। इस आपातकालीन स्थिति में, सामान्य संसदीय और वैध प्रक्रियाएँ निलंबित रहीं और विशेष कानून और अध्यादेश (संसद में पारित करवाए बिना ही) सीधे सरकार द्वारा लागू कर दिए गए। इस आपातकाल में सरकार ने बड़े पैमाने पर ज़ोर-जबरदस्ती से वंध्यकरण (sterilisation) का एक कार्यक्रम लागू करके जनसंख्या की संवृद्धि दर को नीचे लाने का प्रयत्न किया। यहाँ वंध्यकरण का अर्थ ऐसी चिकित्सा पद्धतियों से है जिनके द्वारा गर्भाधान और शिशुजन्म को रोका जा सकता है। पुरुषों के मामले में उपयोग में लाई जाने वाली शल्य पद्धति को नसबंदी (vasectomy) और स्त्रियों के लिए काम में लाई जाने वाली शल्य पद्धति को नलिकाबंदी (tubectomy) कहा जाता है। अधिकतर गरीब और शक्तिहीन लोगों का भारी संख्या में ज़ोर-जबरदस्ती से वंध्यकरण किया गया और सरकारी कर्मचारियों (जैसे स्कूली अध्यापकों या दफ़्तरी बाबुओं) पर भारी दबाव डाला गया कि वे लोगों को वंध्यकरण के लिए आयोजित शिविरों में

भारत की जनसांख्यिकीय उपलब्धियाँ

बॉक्स 2.4

राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम अपनाने के पचास साल बाद, भारत ने :

- स्थूल जन्म दर को 40.8 (1951) से घटाकर 24.1 (2004) पर ला दिया;
- शिशु मृत्यु दर को प्रति 1000 जीवित शिशु जन्म 146 (1951) से घटाकर 58 (2004) पर ला दिया;
- युग्म प्रशिक्षण दर (Couple protection rate) को 10.4 प्रतिशत (1971) से चार गुना बढ़ाकर 44% (1999) पर ला दिया;
- स्थूल मृत्यु दर को 25 (1951) से घटाकर 7.5 (2004) के स्तर पर ला दिया;
- आयु संभाविता को 37 वर्ष से बढ़ाकर 62 वर्ष कर दिया यानि उसमें 25 वर्ष और जोड़ दिए;
- परिवार नियोजन की आवश्यकता और उसकी पद्धतियों के बारे में लगभग सभी लोगों में जागरूकता उत्पन्न कर दी और कुल प्रजनन दर को 6.0 (1951) से घटाकर आधा यानी 3.0 (2004) पर ला दिया।

स्रोत: राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग

वर्ष 2010 के लिए राष्ट्रीय सामाजिक-जनसांख्यिकी लक्ष्य

बॉक्स 2.5

- बुनियादी प्रजननात्मक और बाल स्वास्थ्य सेवाओं, आपूर्तियों और आधारभूत सुविधाओं के ढाँचे की अब तक पूरी न की गई जरूरतों पर ध्यान दिया जाए।
- 14 वर्ष की आयु तक विद्यालयी शिक्षा को नि:शुल्क और अनिवार्य बनाया जाए और प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के स्तर पर बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले लड़कों तथा लड़कियों दोनों के प्रतिशत को घटाकर 20% से नीचे लाया जाए।
- शिशु मृत्यु दर को प्रति 1000 जीवित शिशु जन्म के पीछे 30 के स्तर से नीचे लाया जाए।
- मातृ-मृत्यु दर को प्रति 100,000 जीवित शिशु जन्म के पीछे 100 के स्तर से नीचे लाया जाए।
- टीके से रोकी जाने वाली सभी बीमारियों के विरुद्ध सभी बच्चों को रोगों से मुक्ति यानी प्रतिरक्षा प्रदान की जाए।
- बालिकाओं के विवाह देरी से, यानी 18 वर्ष की आयु से पहले नहीं और हो सके तो 20 वर्ष की आयु के बाद करने को बढ़ावा दिया जाए।
- प्रसूति के 80 प्रतिशत मामले, प्रसूति गृहों जैसी संस्थाओं में संपन्न कराएँ जाएँ और सभी 100 प्रतिशत मामलों में प्रशिक्षित कार्मिकों की सहायता लिए जाने का लक्ष्य प्राप्त किया जाए।
- अनेक विकल्पों की सुविधा के साथ गर्भनिरोध तथा प्रजनन शक्ति के विनियमन के लिए सूचना परामर्श और सेवाएँ सबको उपलब्ध कराने का लक्ष्य प्राप्त किया जाए।
- जन्म, मृत्यु, विवाह और गर्भावस्था के सभी 100 प्रतिशत मामलों का पंजीकरण कराया जाए।
- एक्वायर्ड इम्युनो डेफिशियंसी सिंड्रोम (एड्स) नामक रोग के प्रसार को नियंत्रित किया जाए और प्रजनन अवयवों के संक्रमण और यौन क्रियाओं से संक्रमित रोगों के प्रबंध तथा राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण संगठन के बीच अधिक समन्वय स्थापित किया जाए।
- संचारी रोगों का निवारण और नियंत्रण किया जाए।
- प्रजननात्मक और बाल स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था में और परिवारों तक सहायता पहुँचाने में भारतीय आयुर्विज्ञान प्रणालियों को सम्मिलित किया जाए।
- कुल प्रजनन दर के प्रतिस्थापन स्तरों को प्राप्त करने के लिए छोटे परिवार के मानक को बढ़ावा दिया जाए।
- संबंधित सामाजिक क्षेत्र के कार्यक्रमों के कार्यान्वियन में समाभिमुखता (Convergence) लाई जाए ताकि परिवार कल्याण श्रम केंद्रित कार्यक्रम बन सकें।

स्रोत: राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग

Aren't you proud? We are the world's biggest democracy and soon we will be a still bigger democracy!

वंध्यकरण के लिए लाएँ। इस कार्यक्रम का जनता में व्यापक रूप से विरोध हुआ और आपातकाल के बाद निर्वाचित होकर आई सरकार ने इसे छोड़ दिया।

आपातकाल के बाद राष्ट्रीय परिवार नियोजन कार्यक्रम का नाम बदल कर उसे राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम कहा जाने लगा और वंध्यकरण के लिए अपनाए जाने वाले दबावकारी तरीकों को छोड़ दिया गया। अब इस कार्यक्रम के व्यापक आधार वाले सामाजिक-जनसांख्यिकीय उद्देश्य हैं। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 के अंतर्गत कुछ नए दिशानिर्देश तैयार किए गए हैं। इन दिशानिर्देशों को वर्ष 2010 के नीतिगत लक्ष्यों के रूप में बॉक्स 2.5 में संक्षेप में दिया गया है।

भारत का राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम हमें यह शिक्षा देता है कि हालाँकि राज्य जनसांख्यिकीय परिवर्तन के उद्देश्य से उपयुक्त परिस्थितियाँ बनाने के लिए बहुत-कुछ कर सकता है फिर भी अधिकांश जनसांख्यिकीय परिवर्तनशील दरों में (विशेष रूप से मनुष्य की प्रजनन दर के मामले में) अंततः आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

प्रश्नावली

1. जनसांख्यिकीय संक्रमण के सिद्धांत के बुनियादी तर्क को स्पष्ट कीजिए। संक्रमण अवधि 'जनसंख्या विस्फोट' के साथ क्यों जुड़ी है?

2. माल्थस का यह विश्वास क्यों था कि अकाल और महामारी जैसी विनाशकारी घटनाएँ, जो बड़े पैमाने पर मृत्यु का कारण बनती हैं, अपरिहार्य हैं?

3. मृत्यु दर और जन्म दर का क्या अर्थ है? कारण स्पष्ट कीजिए कि जन्म दर में गिरावट अपेक्षाकृत धीमी गति से क्यों आती है जबकि मृत्यु दर बहुत तेज़ी से गिरती है।

4. भारत में कौन-कौन से राज्य जनसंख्या संवृद्धि के 'प्रतिस्थापन स्तरों' को प्राप्त कर चुके हैं अथवा प्राप्ति के बहुत नजदीक हैं? कौन-से राज्यों में अब भी जनसंख्या संवृद्धि की दरें बहुत ऊँची हैं? आपकी राय में इन क्षेत्रीय अंतरों के क्या कारण हो सकते हैं?

5. जनसंख्या की 'आयु संरचना' का क्या अर्थ है? आर्थिक विकास और संवृद्धि के लिए उसकी क्या प्रासंगिकता है?

6. 'स्त्री-पुरुष अनुपात' का क्या अर्थ है? एक गिरते हुए स्त्री-पुरुष अनुपात के क्या निहितार्थ हैं? क्या आप यह महसूस करते हैं कि माता-पिता आज भी बेटियों की बजाय बेटों को अधिक पसंद करते हैं? आप की राय में इस पसंद के क्या-क्या कारण हो सकते हैं?

संदर्भ ग्रंथ

बोस, आशीष. 2001. *पॉपुलेशन ऑफ़ इंडिया, 2001 सेंसस रिजल्ट्स एंड मेथडोलाजी.* बी. आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन. दिल्ली।

डेविस, किंग्सले. 1951. द *पॉपुलेशन ऑफ़ इंडिया एंड पाकिस्तान.* रसेल एंड रसेल. न्यूयार्क।

इंडिया. 2006. *ए रिफरेंस एनुयल.* पब्लिकेशन्स डिविजन, गर्वमेंट ऑफ़ इंडिया. नयी दिल्ली।

किर्क, डडली. 1968. 'द फील्ड ऑफ़ डेमोग्राफी' डेविड, सिल्स. द्वारा संपा. *इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ सोशल साइंसेस.* द फ्री प्रेस एंड मेकमिलन. न्यूयार्क।

विसारिया, प्रवीण. एंड लीला, विसारिया. 2003. 'इंडियन पॉपुलेशन: इट्स ग्रोथ एंड की कैरक्टरस्टिक्स' वी. दास. द्वारा संपा. द *ऑक्सफोर्ड इंडिया कंपेनियन टू सोसियालॉजी एंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. दिल्ली।

वेबसाइट्स

http://populationcommission.nic.in/facts1.htm

http://en.wikipedia.org/wiki/spanish_flu

http://www.who.int/mediacenter/factsheets/fs211/en/

टिप्पणियाँ

अध्याय 3

सामाजिक संस्थाएँ : निरंतरता एवं परिवर्तन

दूसरे अध्याय में भारतीय जनसंख्या की संरचना और गतिशीलता के बारे में पढ़ने के बाद, अब हम सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करेंगे। जनसंख्या, सिर्फ़ अलग-अलग, असंबंधित व्यक्तियों का जमघट नहीं है; परंतु यह विभिन्न प्रकार के अलग-अलग पर आपस में संबंधित वर्गों और समुदायों से बना हुआ एक समाज है। यह समुदाय, सामाजिक संस्थाओं और संबंधों के द्वारा बने हुए हैं और संचालित हैं। इस अध्याय में हम भारतीय समाज की तीन प्रमुख संस्थाओं को विस्तार में पढ़ेंगे, नामत: जाति, जनजाति एवं परिवार।

3.1 जाति एवं जाति व्यवस्था

किसी आम भारतीय नागरिक की तरह आप भी जानते होंगे कि 'जाति' एक प्राचीन संस्था है जो कि हज़ारों वर्षों से भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का एक हिस्सा है। परंतु इक्कीसवीं सदी में रहने वाले किसी भी भारतवासी की तरह आप यह भी जानते होंगे कि 'जाति' केवल हमारे अतीत का नहीं बल्कि हमारे आज का भी एक अभिन्न अंग है। यह दो 'जातियाँ', एक जो भारत के अतीत का हिस्सा मानी जाती हैं और दूसरी जो कि भारत के वर्तमान का हिस्सा है, कहाँ तक समान हैं? इस खंड में हम इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करेंगे।

अतीत में जाति

जाति भारतीय उपमहाद्वीप से जुड़ा अनूठा संस्थान है। हालाँकि विश्व के अन्य भागों में भी समान प्रभाव उत्पन्न करने वाली सामाजिक व्यवस्थाएँ पाई जाती हैं, परंतु जाति व्यवस्था अपने आप में अपवाद ही है। हालाँकि, यह हिंदू समाज की संस्थात्मक विशेषता है पर इसका प्रचलन भारतीय उपमहाद्वीप के अन्य धार्मिक समुदायों में भी फैला हुआ है खासकर मुसलमानों, ईसाइयों और सिखों में।

माना जाता है कि अंग्रेज़ी के शब्द कास्ट (caste) की उत्पत्ति पुर्तगाली मूल के शब्द कास्टा (casta) से हुई है। पुर्तगाली कास्टा का अर्थ है विशुद्ध नस्ल। अंग्रेज़ी शब्द कास्ट का अर्थ एक विस्तृत संस्थागत व्यवस्था से है जिसे भारतीय भाषाओं में (प्राचीन संस्कृत भाषा से प्रारंभ करते हुए) दो विभिन्न शब्दों-वर्ण और जाति-के अर्थ में उपयोग किया जाता है। वर्ण, जिसका शाब्दिक तात्पर्य है 'रंग', समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार श्रेणियों के विभाजन को वर्ण कहा जाता है। हालाँकि इस विभाजन में जनसंख्या का एक महत्त्वपूर्ण भाग शामिल नहीं है जो कि 'जाति बहिष्कृत', विदेशियों, दासों, युद्धों में पराजित लोगों एवं अन्य लोगों से मिलकर बना है। इन्हें कभी-कभी 'पंचम' या पाँचवीं श्रेणी भी कहा जाता है। जाति एक व्यापक शब्द है जो किसी भी चीज़ के प्रकार या वंश-किस्म (स्पीशीज) को संबोधित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इसमें अचेतन वस्तुओं से लेकर पेड़-पौधों, जीव-जंतु और मनुष्य भी शामिल होते हैं। भारतीय भाषाओं में जाति शब्द का प्रयोग सामान्यत: जाति संस्था के संदर्भ में ही किया जाता है। हालाँकि यह दिलचस्प है कि भारतीय भाषा बोलने वाले लोग, अंग्रेज़ी शब्द 'कास्ट' का प्रयोग भी करने लगे हैं।

'वर्ण' और 'जाति' के आपसी संबंध की सटीक व्याख्या क्या हो? यह प्रश्न विद्वानों के बीच अटकलबाज़ी व बहस का विषय रहा है। सबसे सामान्य व्याख्या यह है कि वर्ण को एक अखिल भारतीय सामूहिक वर्गीकरण के रूप में समझा जा सकता है, वहीं जाति को क्षेत्रीय या स्थानीय उप-वर्गीकरण के रूप में समझा जा सकता है जिसमें सैकड़ों या यहाँ तक की हज़ारों जातियों एवं उप-जातियों से बनी

अत्यधिक जटिल व्यवस्था शामिल होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ चार वर्णों का वर्गीकरण पूरे भारत में समान है, वहीं जाति अधिक्रम के वर्गीकरण क्षेत्रीय हैं जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलते रहते हैं।

इस बात पर भी मतभेद है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का सुनिश्चित काल क्या है। सामान्यत: यह माना जाता है कि चार वर्णों का वर्गीकरण लगभग तीन हज़ार साल पुराना है। हालाँकि, विभिन्न समय कालों में 'जाति व्यवस्था' के विभिन्न स्वरूप रहे हैं इसलिए यह मान लेना कि एक समान व्यवस्था तीन हज़ार वर्षों से चली आ रही है अपने आप को भ्रमित करना होगा। अपने प्रारंभिक काल, वैदिक काल, 900–500 ई. पू. के बीच में जाति व्यवस्था वास्तव में वर्ण व्यवस्था ही थी और इसके केवल चार विभाजन थे। यह विभाजन बहुत विस्तृत या बहुत कठोर नहीं थे और यह जन्म से निर्धारित नहीं होते थे। इन वर्गों के बीच स्थान परिवर्तन संभव ही नहीं बल्कि सामान्य भी था। अत: उत्तर-वैदिक काल में ही जाति एक कठोर संस्था बनी जिससे हम जाति की प्रसिद्ध परिभाषाओं द्वारा परिचित हैं।

अयन्कली
(1863 - 1914)

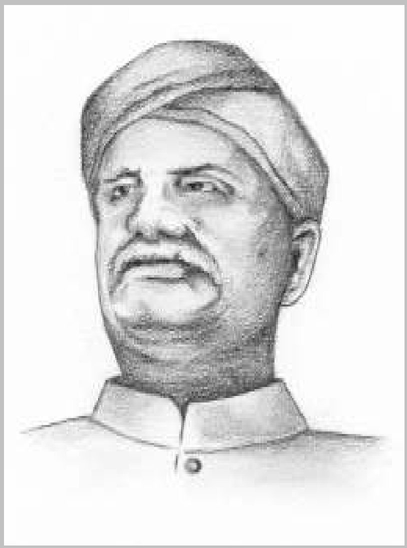

अयन्कल्ली का जन्म केरल में हुआ। आप निम्न जातियों एवं दलितों के नेता थे। इनके प्रयासों से, दलितों को सार्वजनिक सड़कों पर चलने की और अपने बच्चों को विद्यालयों में दाखिला दिलाने की आजादी मिली।

जाति की सबसे सामान्य निर्धारित विशेषताएँ निम्न हैं :

1. जाति, जन्म से निर्धारित होती है। एक बच्चा अपने माता-पिता की जाति में ही 'जन्म लेता' है। जाति कभी चुनाव का विषय नहीं होती। हम अपनी जाति को कभी भी बदल नहीं सकते, छोड़ नहीं सकते या हम इस बात का चुनाव नहीं कर सकते कि हमें जाति में शामिल होना है या नहीं। हालाँकि, ऐसे उदाहरण हैं जहाँ एक व्यक्ति को उसकी जाति से निकाला भी जा सकता है।
2. जाति की सदस्यता के साथ विवाह संबंधी कठोर नियम शामिल होते हैं। जाति समूह 'सजातीय' होते हैं अर्थात् विवाह समूह के सदस्यों में ही हो सकते हैं।
3. जाति सदस्यता में खाने और खाना बाँटने के बारे में नियम भी शामिल होते हैं। किस प्रकार का खाना खा सकते हैं और किस प्रकार का नहीं, यह निर्धारित है और किसके साथ खाना बाँटकर खाया जा सकता है यह भी निर्धारित होता है।
4. जाति में श्रेणी एवं प्रस्थिति के एक अधिक्रम में संयोजित अनेक जातियों की एक व्यवस्था शामिल होती है। सैद्धांतिक तौर पर, हर व्यक्ति की एक जाति होती है और हर जाति का सभी जातियों के अधिक्रम में एक निर्धारित स्थान होता है। जहाँ अनेक जातियों की अधिक्रमित स्थिति, विशेषकर मध्यक्रम की श्रेणियों में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदल सकती है पर अधिक्रम हमेशा पाया जाता है।
5. जातियों में आपसी उप-विभाजन भी होता है अर्थात् जातियों में हमेशा उप-जातियाँ होती हैं और कभी-कभी उप-जातियों में भी उप-उप-जातियाँ होती हैं। इसे खंडात्मक संगठन (segmental organisation) कहते हैं।
6. पारंपरिक तौर पर जातियाँ व्यवसाय से जुड़ी होती थीं। एक जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति उस जाति से जुड़े व्यवसाय को ही अपना सकता था, अत: वह व्यवसाय वंशानुगत थे अर्थात् यह

जोतिराव गोविन्दराव फुले
(1827-1890)

जोतिराव गोविन्दराव फुले ने जाति व्यवस्था के अन्याय की भर्त्सना की और छुआछूत के नियमों की घोर निंदा की। 1873 में उन्होंने सत्यशोधक समाज की स्थापना की जो निम्न जाति के लोगों के मानवाधिकारों और सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए समर्पित था।

पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते थे। दूसरी ओर, एक विशेष व्यवसाय को किसी जाति से जुड़े होने की वजह से उसी जाति के लोग अपना सकते थे, किसी दूसरी जातियों के सदस्य वह काम नहीं कर सकते थे।

यह विशिष्टताएँ निर्धारित नियम हैं जो प्राचीन धर्म-ग्रंथों में पाए जाते हैं। चूँकि यह निर्धारित नियम हमेशा व्यवहार में नहीं थे, हम यह नहीं कह सकते कि यह नियम किस सीमा तक जाति की आनुभविक वास्तविकता अर्थात् उस समय के लोगों के लिए इसका निश्चित अर्थ निर्धारित करते थे। जैसाकि आपके सामने है अधिकांश निर्धारित नियमों में प्रतिबंध शामिल थे। ऐतिहासिक सूत्रों से यह भी साफ़ तौर पर साबित होता है कि जाति एक बहुत असमान संस्था थी। जहाँ कुछ जातियों को तो इस व्यवस्था से बहुत लाभ रहा, वहीं अन्य जातियों को इसकी वजह से अधीनता एवं कभी भी न समाप्त होने वाले श्रम का जीवन जीने का दंड भुगतना पड़ा। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब जाति जन्म द्वारा कठोरता से निर्धारित हो गई उसके बाद किसी व्यक्ति के लिए सैद्धांतिक तौर पर कभी भी उसकी जीवन स्थिति बदलना असंभव था। चाहे उच्च जाति के लोग उच्च स्तर के लायक हों या न हों, उनका स्तर हमेशा उच्च ही रहता था जबकि निम्न जाति के लोगों का स्तर हमेशा निम्न रहता था।

सैद्धांतिक तौर पर, जाति व्यवस्था को सिद्धांतों के दो समुच्चयों के मिश्रण के रूप में समझा जा सकता है, एक भिन्नता और अलगाव पर आधारित है और दूसरा संपूर्णता और अधिक्रम पर। हर जाति से यह अपेक्षित है कि वह दूसरी जाति से भिन्न हों और इसलिए वह प्रत्येक अन्य जाति से कठोरता से पृथक होती है। अत: जाति के अधिकांश धर्मग्रंथसम्मत नियमों की रूपरेखा जातियों को मिश्रित होने से बचाने के अनुसार बनाई गई है। इन नियमों में शादी, खान-पान एवं सामाजिक अंत:क्रिया से लेकर व्यवसाय तक के नियम शामिल हैं। वहीं दूसरी ओर इन विभिन्न एवं पृथक जातियों का कोई व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं है, वे एक बड़ी संपूर्णता से संबंधित होकर ही अपना अस्तित्व बनाए रख सकती है। समाज की संपूर्णता में सभी जातियाँ शामिल होती हैं। इससे भी आगे, यह सामाजिक संपूर्णता या व्यवस्था समानतावादी व्यवस्था होने की बजाय अधिक्रमित व्यवस्था है। प्रत्येक जाति का समाज में एक विशिष्ट स्थान होने के साथ-साथ एक क्रम श्रेणी भी होती है। एक सीढ़ीनुमा व्यवस्था जो ऊपर से नीचे जाती है, में प्रत्येक जाति का एक विशिष्ट स्थान होता है।

धार्मिक या कर्मकांडीय दृष्टि से जाति की अधिक्रमित व्यवस्था 'शुद्धता' (शुचिता) और 'अशुद्धता' (अशुचिता) के बीच के अंतर पर आधारित होती है। यह विभाजन जिसे हम पवित्र के करीब मानने में विश्वास रखते हैं (अत: कर्मकांड की शुद्धता के लक्ष्यार्थ), उसके और जिसे हम पवित्र से परे मानते हैं या उसके विपरीत मानते हैं अत: वह कर्मकांड के लिए प्रदूषित होता है, के बीच हैं। वह जातियाँ जिन्हें कर्मकांड की दृष्टि से शुद्ध माना जाता है उनका स्थान उच्च होता है और जिनको कम शुद्ध या अशुद्ध माना जाता है उन्हें निम्न स्थान दिया जाता है। जैसाकि हर समाज में होता है, सामाजिक स्तर से भौतिक शक्ति (अर्थात्, आर्थिक या सैन्य शक्ति) नज़दीकी से जुड़ी होती है, अत: जिनके पास शक्ति होती है उनकी स्थिति उच्च होती है और जिनके पास शक्ति नहीं होती उनकी स्थिति निम्न होती है। इतिहासकारों का मानना है कि जो लोग युद्धों में पराजित हुए थे उन्हें अक्सर निम्न जाति की स्थिति मिली।

अंत में यह भी कहा जा सकता है कि जातियाँ एक दूसरे से सिर्फ़ कर्मकांड की दृष्टि से ही असमान नहीं हैं; उनसे यह भी अपेक्षित है कि वे एक-दूसरे की सहयोगी होंगी एवं उनमें आपस में प्रतिस्पर्धा नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक जाति का व्यवस्था में अपना स्थान तय है और वो स्थान किसी भी अन्य जाति को नहीं दिया जा सकता। चूँकि, जाति व्यवसाय से भी जुड़ी हुई है, अतः व्यवस्था श्रम के सामाजिक विभाजन के अनुरूप कार्य करती है, परंतु सैद्धांतिक तौर पर यह किसी भी प्रकार की परिवर्तनशीलता की अनुमति नहीं देती है।

यह अचंभे की बात नहीं है कि अतीत के बारे में हमारे ज्ञान के स्रोत, मुख्यतः प्राचीन काल के बारे में, अपर्याप्त हैं। यह तय कर पाना मुश्किल है कि उस समय परिदृश्य कैसा था या किन कारणों से कुछ संस्थाओं या व्यवहारों की स्थापना हुई थी। परंतु, अगर हमें इस बारे में पूरी जानकारी होती तो भी उससे हमें यह नहीं पता चल सकता कि आज हमें क्या करना चाहिए। सिर्फ़ इसलिए कि अतीत में कुछ हुआ था वह हमारी परंपरा का हिस्सा है; यह आवश्यक नहीं कि वह हमेशा के लिए सही या गलत है। प्रत्येक काल में इन प्रश्नों के बारे में नए सिरे से सोचना होगा और अपनी सामाजिक संस्थाओं के बारे में स्वयं के सामूहिक निर्णय को बनाना होगा।

सावित्री बाई फुले (1831-1897)

सावित्री बाई फुले देश में बालिकाओं के लिए बने पहले विद्यालय की पहली प्रधान अध्यापिका थीं जो पुणे में स्थापित किया गया था। इन्होंने अपना पूरा जीवन शूद्रों और अति शूद्रों को शिक्षा अर्पण करने में लगा दिया। इन्होंने किसानों और मज़दूरों के लिए रात्रि विद्यालयों की शुरुआत की। इनकी मृत्यु प्लेग से पीड़ित मरीज़ों की देखभाल के दौरान हुई।

उपनिवेशवाद और जाति

प्राचीन काल की तुलना में, हम अपने हाल के इतिहास में जाति के बारे में बहुत अधिक जानते हैं। यदि यह माना जाए कि आधुनिक इतिहास 19वीं शताब्दी के साथ प्रारंभ हुआ तो 1947 में प्राप्त भारतीय स्वतंत्रता को औपनिवेशिक काल (मोटे तौर पर 1800 से 1947 तक के लगभग 150 वर्ष) और स्वातंत्र्योत्तर अथवा औपनिवेशिक शासन के बाद के काल (1947 से आज तक के छह दशक) के बीच स्वाभाविक विभाजक रेखा मान सकते हैं। एक सामाजिक संस्था के रूप में जाति के वर्तमान स्वरूप को औपनिवेशिक काल और साथ ही स्वतंत्र भारत में तीव्र गति से हुए परिवर्तनों द्वारा मज़बूती से आकार प्रदान किया गया।

विद्वज्जन इस बात पर सहमत हैं कि औपनिवेशिक काल के दौर में सभी प्रमुख सामाजिक संस्थाओं में और विशेष रूप से जाति व्यवस्था में प्रमुख परिवर्तन आए। वस्तुतः कुछ विद्वान तो कहते हैं कि आज जिसे हम जाति के रूप में जानते हैं वह प्राचीन भारतीय परंपरा की अपेक्षा उपनिवेशवाद की ही अधिक देन है। यह सभी परिवर्तन जान-बूझकर या सोच-समझकर नहीं लाए गए। प्रारंभ में, ब्रिटिश प्रशासकों ने देश पर कुशलतापूर्वक शासन करना सीखने के उद्देश्य से जाति व्यवस्थाओं की जटिलताओं को समझने के प्रयत्न शुरू किए। इन प्रयत्नों के अंतर्गत देश भर में विभिन्न जनजातियों तथा जातियों की 'प्रथाओं और तौर-तरीकों' के बारे में अत्यंत सुव्यवस्थित रीति से गहन सर्वेक्षण किए गए और उनके विषय में रिपोर्टें तैयार की गईं। अनेक ब्रिटिश प्रशासक प्रशासनिक अधिकारी होने के साथ-साथ शौकिया तौर पर नृजातिविज्ञानी भी थे और उन्होंने सर्वेक्षण तथा अध्ययन कार्यों में बहुत रुचि ली।

लेकिन जाति के विषय में सूचना एकत्र करने का अब तक का सबसे महत्त्वपूर्ण सरकारी प्रयत्न जनगणना के माध्यम से किया गया। जनगणना के कार्य को सर्वप्रथम 1860 के दशक में प्रारंभ किया गया

पेरियार (ई.वी. रामास्वामी नायकर) (1879-1973)

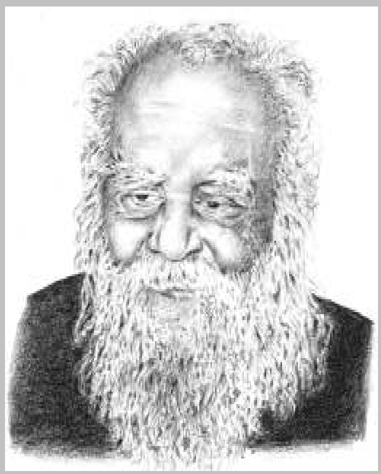

पेरियार (ई. वी. रामास्वामी नायकर) एक बुद्धिवादी और दक्षिण भारत में निम्न जाति आंदोलन के नेता के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने लोगों को यह महसूस करने के लिए उद्‌बोधित किया कि सभी मनुष्य बराबर हैं और हर व्यक्ति का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह स्वतंत्रता और समानता का आनंद ले।

था। इसके बाद 1881 से तो जनगणना ब्रिटिश भारतीय सरकार द्वारा नियमित रूप से हर दस वर्ष बाद कराई जाने लगी। 1901 में हरबर्ट रिजले के निर्देशन में कराई गई जनगणना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इस जनगणना के अंतर्गत जाति के सामाजिक अधिक्रम के बारे में जानकारी इकट्ठी करने का प्रयत्न किया गया अर्थात् किस क्षेत्र में किस जाति को अन्य जातियों की तुलना में सामाजिक दृष्टि से कितना ऊँचा या नीचा स्थान प्राप्त है और तदनुसार श्रेणी क्रम में प्रत्येक जाति की स्थिति निर्धारित कर दी गई। जाति के सामाजिक बोध पर इस प्रयास का गहरा प्रभाव पड़ा और विभिन्न जातियों के प्रतिनिधियों द्वारा जनगणना आयुक्त के पास सैकड़ों याचिकाएँ भेजी गई जिनमें उन्होंने सामाजिक क्रम में अपनी जाति को अधिक ऊँचा स्थान देने की माँग की थी और अपने दावों के समर्थन में अनेक ऐतिहासिक तथा धर्मशास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किए थे। कुल मिलाकर, विद्वान यह महसूस करते हैं कि इस प्रकार की जातीय गणना और आधिकारिक रूप से जातियों की प्रस्थिति का अभिलेख करने के प्रत्यक्ष प्रयास ने जाति संस्था के स्वरूप को ही बदल डाला। इस प्रकार के हस्तक्षेप से पहले जातियों की पहचान अपेक्षाकृत बहुत अधिक अस्थिर तथा कम कठोर थी। जब एक बार उनकी गणना प्रारंभ हो गई और उसे अभिलिखित किया जाने लगा तो फिर जाति का एक नया जीवन प्रारंभ हो गया।

औपनिवेशिक शासन द्वारा किए गए अन्य हस्तक्षेपों ने भी इस संस्था पर अपना प्रभाव डाला। भूराजस्व व्यवस्थाओं और तत्संबंधी प्रबंधों तथा कानूनों ने उच्च जातियों के रूढ़िगत (जाति आधारित) अधिकारों को वैध मान्यता देने का कार्य किया। अब ये जातियाँ, सामंती वर्गों की बजाय, आधुनिक अर्थों में भू-स्वामी यानी ज़मीन की मालिक बन गई और ज़मीन की उपज पर अथवा राजस्व या अन्य कई प्रकार के नज़रानों पर उनका दावा स्थापित हो गया। पंजाब की तरह अन्य क्षेत्रों में भी बड़े पैमाने पर सिंचाई की योजनाएँ प्रारंभ की गई और उनके साथ-साथ लोगों को वहाँ बसाने के प्रयत्न किए गए और इन सभी प्रयत्नों का भी अपना एक जातीय आयाम था। इस क्रम के दूसरे सिरे पर औपनिवेशिक काल के अंतिम दौर में, प्रशासन ने पददलित जातियों, जिन्हें उन दिनों 'दलित वर्ग' कहा जाता था, के कल्याण में भी रुचि ली। इन प्रयत्नों के अंतर्गत ही 1935 का भारत सरकार अधिनियम पारित किया गया जिसने राज्य द्वारा विशेष व्यवहार के लिए निर्धारित जातियों तथा जनजातियों की सूचियों या 'अनुसूचियों' को वैध मान्यता प्रदान कर दी। इस प्रकार, 'अनुसूचित जनजातियाँ' और 'अनुसूचित जातियाँ' शब्द अस्तित्व में आए। जातीय अधिक्रम में जो जातियाँ सबसे नीचे थीं जिनके साथ सबसे अधिक भेदभाव बरता जाता था और जिनमें सभी तथाकथित 'अस्पृश्य' यानी अछूत जातियाँ शामिल थीं, उन्हें अनुसूचित जातियों की श्रेणी में शामिल किया गया। (आप आगे सामाजिक अपवर्जन विषयक पाँचवें अध्याय में अस्पृश्यता और उसके विरुद्ध संघर्ष के बारे में और अधिक पढ़ेंगे)।

इस प्रकार, उपनिवेशवाद ने जाति संस्था में अनेक प्रमुख परिवर्तन किए। शायद यह कहना अधिक समीचीन होगा कि औपनिवेशिक काल में जाति की संस्था में अनेक आधारभूत परिवर्तन आए। उस काल में, पूँजीवाद और आधुनिकता के प्रसार के कारण, भारत में ही नहीं बल्कि विश्व भर में तेज़ी से बदलाव आ रहा था।

जाति का समकालीन रूप

1947 में भारत को प्राप्त स्वतंत्रता वैसे तो एक बहुत बड़ी घटना थी पर उसके बाद भी भारत को अपने औपनिवेशिक अतीत से पूरी तरह छुटकारा नहीं मिला। राष्ट्रवादी आंदोलनों के लिए व्यापक पैमाने पर जनमत जुटाने में भी जातीय भावनाओं एवं आधारों ने अनिवार्य रूप से अपनी भूमिका अदा की थी। 'दलित वर्गों' और विशेष रूप से अस्पृश्य (अछूत) समझी जाने वाली जातियों को संगठित करने के प्रयत्न राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रारंभ होने से पहले ही 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ हो चुके थे। जातीय अधिक्रम के दोनों सिरों से उच्च कही जाने वाली जातियों के प्रगतिशील सुधारकों और नीची समझी जाने वाली जातियों के सदस्यों जैसे, पश्चिमी भारत में महात्मा जोतिबा फुले और बाबा साहेब अंबेडकर और दक्षिण भारत में अय्यनकालि, श्री नारायण गुरू, इयोतीदास और पेरियार (ई. वी. रामास्वामी नायकर) दोनों ने ही इस दिशा में पहल की। महात्मा गांधी और बाबा साहेब अंबेडकर दोनों ने ही 1920 के दशक से अस्पृश्यता (छुआछूत) के विरुद्ध अपने विरोधांदोलन शुरू कर दिए थे। अस्पृश्यता-विरोधी कार्यक्रमों को कांग्रेस की कार्यसूची में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया और जब स्वतंत्रता क्षितिज पर दृष्टिगोचर होने लगी तब तक राष्ट्रवादी आंदोलन के संपूर्ण परिदृश्य में, मोटे तौर पर यह सहमति हो गई कि जातीय विभिन्नताओं का उन्मूलन कर दिया जाए। राष्ट्रवादी आंदोलन में मुखरित यह प्रबल दृष्टिकोण जाति को एक सामाजिक कुरीति और भारतीयों के बीच फूट डालने की एक औपनिवेशिक युक्ति मानता था। लेकिन राष्ट्रवादी नेतागण, जिनमें महात्मा गांधी प्रमुख थे, सबसे नीची समझी जाने वाली जातियों के उत्थान के लिए अस्पृश्यता तथा अन्य जातीय प्रतिबंधों के उन्मूलन के पक्ष में समर्थन जुटाने के लिए प्रयत्नशील रहे और साथ ही, भू-स्वामी उच्च जातियों को यह आश्वासन देने में भी सफल रहे कि उनके हितों का भी ध्यान रखा जाएगा।

श्री नारायण गुरू
(1856-1928)

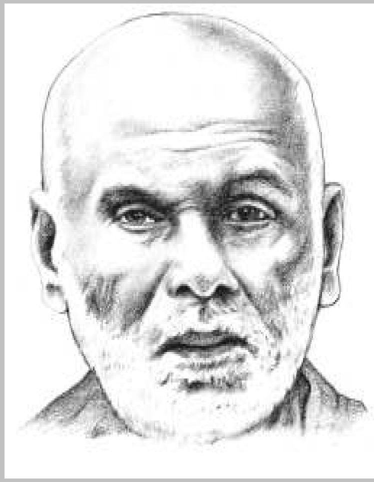

केरल में जन्मे श्री नारायण गुरू ने सबके लिए भाईचारे का उपदेश दिया और जाति व्यवस्था के कुप्रभावों के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने एक शांतिपूर्ण लेकिन सार्थक सामाजिक क्रांति का नेतृत्व किया और 'सबके लिए एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर' का नारा दिया।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य को ये अंतर्विरोध विरासत में मिले जो बाद में प्रतिबिंबित होते रहे। एक ओर तो राज्य जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए प्रतिबद्ध था और भारत के संविधान में भी स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख किया गया। दूसरी ओर, राज्य उन आमूलचूल सुधारों को लाने में असमर्थ एवं अनिच्छुक था जो जातीय असमानता के लिए आर्थिक आधार को दुर्बल बना देते। एक अन्य स्तर पर भी, राज्य ने यह माना कि यदि वह जाति प्रथा की ओर आँखें बंद करके काम करेगा तो उससे स्वत: ही जाति आधारित विशेषाधिकार कमज़ोर पड़ जाएँगे और अंततोगत्वा इस संस्था का उन्मूलन हो जाएगा। उदाहरण के लिए, सरकारी पदों पर नियुक्तियों के मामले में जाति का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था और इस प्रकार अच्छी तरह से शिक्षित उच्च जातियों और अल्प-शिक्षित अथवा अक्सर निरक्षर निम्न जातियों को 'समान' आधार पर प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। इसका एकमात्र अपवाद यही था कि अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए कुछ पद आरक्षित होते थे। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता-प्राप्ति के ठीक बाद के कुछ दशकों तक राज्य ने इस तथ्य पर समुचित कार्रवाई करने के लिए पर्याप्त प्रयत्न नहीं किए कि उच्च जातियाँ तथा निम्न समझी जाने वाली जातियाँ आर्थिक तथा शैक्षिक दृष्टि से कतई समान नहीं हैं।

राज्य के विकास संबंधी कार्यकलाप और निजी उद्योग की संवृद्धि ने भी आर्थिक परिवर्तन में तीव्रता और गहनता लाकर अप्रत्यक्ष रूप से जाति संस्था को प्रभावित किया। आधुनिक उद्योग ने सभी प्रकार के नए-नए रोज़गार के अवसर तैयार किए जिनके लिए कोई जातीय नियम नहीं थे। नगरीकरण और शहरों में सामूहिक रहन-सहन की परिस्थितियों ने सामाजिक अंत:क्रिया के जाति-पृथक्कृत स्वरूपों का अधिक समय तक चलना मुश्किल कर दिया। एक अन्य स्तर पर, आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीय व्यक्तिवाद और योग्यतातंत्र अर्थात् योग्यता को महत्व देने के उदार विचारों से आकर्षित हुए और उन्होंने अधिक अतिवादी जातीय व्यवहारों को छोड़ना प्रारंभ कर दिया। दूसरी ओर, यह भी उल्लेखनीय था कि जाति व्यवस्था कितनी लचीली साबित हुई। औद्योगिक नौकरियों में भर्ती, चाहें वह भर्ती मुंबई की कपड़ा मिलों में हो या कोलकाता की जूट मिलों में अथवा कहीं अन्यत्र हो, जाति और नातेदारी के आधार पर होती रही। बिचौलिया जो कारखानों या मिलों के लिए मज़दूर भर्ती करता था, अपनी जाति या क्षेत्र के उम्मीदवारों में से मज़दूर चुनता था जिससे उन विभागों या कारखानों में अक्सर एक खास जाति के मज़दूरों का ही बोलबाला रहता था। अछूतों के प्रति खूब भेदभाव बरता जाता था और शहरों में भी इस तरह के पूर्वाग्रह का अभाव नहीं था हालाँकि, यह गाँवों की तुलना में कम था।

यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि जाति सांस्कृतिक और घरेलू क्षेत्रों में ही सबसे सुदृढ़ सिद्ध हुई। अंतर्विवाह यानी अपनी जाति के भीतर विवाह करने की परिपाटी, आधुनिकीकरण और परिवर्तन से बड़े तौर पर अप्रभावित रही। आज भी अधिकांश विवाह जाति की परिसीमाओं के भीतर ही होते हैं हालाँकि, अंतर्जातीय विवाह अब पहले की तुलना में अधिक हो रहे हैं। किंतु कुछ परिसीमाएँ अधिक लचीली हो गई हैं अथवा उनमें कुछ दरारें पड़ गई हैं, परंतु समान सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति के जाति के समूहों के बीच के विभाजन को बनाए रखने की अब भी बराबर कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए, उच्च जातियों (जैसे, ब्राह्मण, बनिया, राजपूत) के भीतर अंतर्जातीय विवाह संभवत: पहले से कहीं अधिक हो रहे हैं पर उच्च जाति और पिछड़ी या अनुसूचित जाति के व्यक्तियों के बीच विवाह आज भी न के बराबर ही हो रहे हैं। भोजन को मिल-बाँटकर खाने के नियमों के मामले में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है।

संभवत: परिवर्तन का सबसे घटनापूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण क्षेत्र राजनीति का क्षेत्र रहा है। स्वतंत्र भारत में अपने प्रारंभ से ही, लोकतांत्रिक राजनीति गहनता से जाति आधारित रही है। हालाँकि इसका कार्यचालन जटिल से जटिलतर होता गया है और उसके भविष्य के बारे में कुछ कहना बहुत कठिन है फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जाति चुनावी राजनीति का केंद्र-बिंदु बनी हुई है। 1980 के दशक से तो हमने स्पष्ट रूप से जाति आधारित राजनीतिक दलों को भी उभरते देखा है। प्रारंभिक सामान्य चुनावों में ऐसा प्रतीत हुआ कि जातीय भाईचारे की भूमिका चुनाव जीतने में निर्णायक रही थी। परंतु उसके तुरंत बाद ही स्थिति अत्यंत जटिल हो गई क्योंकि भिन्न-भिन्न दलों ने जातीय आधार पर मत प्राप्त करने की संभावना का हिसाब लगाने में एक-दूसरे से होड़ शुरू कर दी।

परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं को आजमाने और समझने के लिए समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवविज्ञानियों ने कई नई-नई संकल्पनाएँ गढ़ीं। शायद उन संकल्पनाओं में सबसे अधिक प्रचलित संकल्पनाएँ 'संस्कृतिकरण' और 'प्रबल-जाति' की हैं, ये दोनों संकल्पनाएँ एम. एन. श्रीनिवास की देन हैं लेकिन इन पर अन्य विद्वानों द्वारा गहनता से चर्चा और आलोचना की गई है।

'संस्कृतिकरण' एक ऐसी प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा (आमतौर पर मध्य या निम्न) जाति के सदस्य किसी उच्च जाति (या जातियों) की धार्मिक क्रियाओं, घरेलू या सामाजिक परिपाटियों को अपनाकर

अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊँचा करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि यह प्रघटना काफ़ी पुरानी है और स्वतंत्रता-प्राप्ति, यहाँ तक कि औपनिवेशिक काल के भी पहले से अपनाई जाती रही है, लेकिन हाल के समय में इसका बहुत अधिक प्रचार हो गया है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत समानुकरण के लिए अक्सर ब्राह्मण या क्षत्रिय जातियों के रीति-रिवाजों या परिपाटियों को अपनाया जाता था जैसे, शाकाहारी बन जाना, यज्ञोपवीत धारण करना, कुछ विशिष्ट प्रकार की प्रार्थनाएँ करना और धार्मिक उत्सव मनाना आदि-आदि। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया आमतौर पर संबंधित जाति के आर्थिक स्तर में उन्नति होने के बाद या उसके साथ-साथ अपनाई जाती है, यद्यपि यह स्वतंत्र रूप से भी अपनाई जा सकती है। बाद में हुए शोध के फलस्वरूप इस संकल्पना में अनेक संशोधन हो चुके हैं एवं इस संकल्पना के संशोधित संस्करण के लिए सुझाव दिए जा चुके हैं। इनमें यह तर्क भी शामिल है कि संस्कृतिकरण पहले से निषिद्ध किसी अनुष्ठान (कर्मकांड)/सामाजिक विशेषाधिकारों (जैसे, निम्न जाति के लोगों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना, जिसके लिए पहले कठोर दंड दिए जाने की व्यवस्था थी) का अवज्ञापूर्ण दावा हो सकता है न कि 'निम्न' जातियों द्वारा 'उच्च' जातियों का चाटुकारीपूर्ण अनुकरण।

मैसूर नरसिंहाचार श्रीनिवास (1916-1999)

मैसूर नरसिंहाचार श्रीनिवास, भारत के एक अग्रणी समाजशास्त्री और सामाजिक मानवविज्ञानी हैं। वे जाति व्यवस्था पर किए गए कार्य तथा 'संस्कृतिकरण' एवं 'प्रबल जाति' जैसे शब्दों के लिए जाने जाते हैं। उनकी किताब द *रिमेम्बरड विलेज* सामाजिक मानवविज्ञान में गाँवों में किए गए सबसे अच्छे अध्ययनों में से एक है।

'प्रबल जाति' शब्द का प्रयोग ऐसी जातियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है जिनकी जनसंख्या काफ़ी बड़ी होती थी और जिन्हें स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद किए गए आंशिक भूमि सुधारों द्वारा भूमि के अधिकार प्रदान किए गए थे। इन भूमि-सुधारों ने पहले के दावेदारों से अधिकार छीन लिए थे। ये दावेदार ऊँची जातियों के ऐसे सदस्य होते थे जो इस अर्थ में 'अनुपस्थित यानी दूरवासी ज़मींदार' थे कि वे अपना लगान वसूल करने के अलावा खेतिहर अर्थव्यवस्था में कोई भूमिका अदा नहीं करते थे। वे अक्सर उस गाँव में भी नहीं रहते थे बल्कि उनका आवास कस्बों या शहरों में होता था। अब ये भूमि-अधिकार उस अगले स्तर के दावेदारों को प्राप्त हो गए हैं जो कृषि के प्रबंध में तो शामिल थे पर स्वयं भूमि नहीं जोतते थे। ये मध्यवर्ती जातियाँ भी स्वयं परिश्रम नहीं करती थीं, बल्कि भूमि की जुताई, देखभाल आदि के लिए निम्न जातियों के मज़दूरों पर आश्रित थीं, जिनमें विशेष रूप से 'अछूत' जातियों के मज़दूर शामिल थे। किंतु एक बार जब उन्हें भूमि-अधिकार मिल गए तो फिर उन्होंने पर्याप्त आर्थिक शक्ति प्राप्त कर ली। उनकी बड़ी संख्या ने भी सर्वजनीन वयस्क मताधिकार पर आधारित चुनावी लोकतंत्र के इस युग में उन्हें राजनीतिक शक्ति प्रदान की। इस प्रकार, यह मध्यवर्ती जातियाँ देहाती इलाकों में प्रबल जातियाँ बन गई और क्षेत्रीय राजनीति तथा खेतिहर अर्थव्यवस्था में निर्णायक भूमिका अदा करने लगीं। इन प्रबल जातियों के कुछ उदाहरण हैं: बिहार और उत्तर प्रदेश के यादव, कर्नाटक के वोक्कलिंग, आंध्र प्रदेश के रेड्डी और खम्मा लोग, महाराष्ट्र के मराठे, पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जाट और गुजरात के पाटीदार।

समकालीन दौर में जाति व्यवस्था में हुए अत्यंत महत्त्वपूर्ण फिर भी विरोधाभासी परिवर्तनों में से एक परिवर्तन यह है कि अब जाति व्यवस्था उच्च जातियों, नगरीय मध्यम और उच्च वर्गों के लिए 'अदृश्य' होती जा रही है। इन समूहों के लिए, जो स्वातंत्र्योत्तर काल की विकासात्मक नीतियों से सर्वाधिक लाभान्वित

हुए हैं, जातीयता का महत्त्व सचमुच कम हो गया प्रतीत होता है क्योंकि अब इसका कार्य भलीभाँति संपन्न हो चुका है। इन समूहों की जातीय प्रस्थिति यह सुनिश्चित करने के लिए निर्णायक रही है कि इन समूहों को तीव्र विकास द्वारा प्रदत्त अवसरों का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए आवश्यक आर्थिक तथा शैक्षिक संसाधन उपलब्ध हों। खासतौर पर, ऊँची जातियों के संभ्रांत लोग आर्थिक सहायता प्राप्त सार्वजनिक शिक्षा, विशेष रूप से विज्ञान, प्रौद्योगिकी, आयुर्विज्ञान तथा प्रबंधन में व्यावसायिक शिक्षा से लाभान्वित होने में सफल हुए। इसके साथ-साथ, वे स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के प्रारंभिक दशकों में राजकीय क्षेत्र की नौकरियों में हुए विस्तार का भी लाभ उठा सकें। इस प्रारंभिक अवधि में, शेष समाज की तुलना में उनकी अग्रणी स्थिति (शिक्षा की दृष्टि से) ने यह सुनिश्चित कर दिया कि उन्हें किसी गंभीर प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ा। उनकी दूसरी तथा तीसरी पीढ़ियों में जब उनकी विशेषाधिकार प्राप्त प्रस्थिति और सुदृढ़ हो गई तब इन समूहों को यह विश्वास होने लगा कि उनकी प्रगति का जाति से कोई ज़्यादा लेना-देना नहीं था। निश्चित रूप से, इन समूहों की तीसरी पीढ़ियों के लिए उनकी आर्थिक तथा शैक्षिक पूँजी अकेले ही यह सुनिश्चित करने के लिए पूर्णत: पर्याप्त है कि उन्हें जीवन में सर्वोत्तम अवसर प्राप्त होते रहेंगे। इस समूह के लिए, सार्वजनिक जीवन में जाति की कोई भूमिका नहीं रही है, वह धार्मिक रीति-रिवाज, विवाह अथवा नातेदारी के व्यक्तिगत क्षेत्र तक ही सीमित है। किंतु, यह एक विशेषीकृत या विभेदित समूह है और इस तथ्य ने आगे एक और जटिलता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि विशेषाधिकार या सुविधा प्राप्त इस समूह में ऊँची जाति के लोगों का ही बाहुल्य है, लेकिन ऊँची जातियों के सभी लोगों को यह सुविधा प्राप्त नहीं है, उनमें से कुछ लोग गरीब भी हैं।

जहाँ तक तथाकथित अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों का संबंध है, उनके लिए तो उपर्युक्त से विपरीत स्थिति ही घटित हुई है। उनके लिए, जाति और अधिक दिखने वाली हो गई, निस्संदेह उनकी जाति ने उनकी पहचान के अन्य सभी आयामों को ग्रस लिया है। क्योंकि उन्हें विरासत में कोई शैक्षिक और सामाजिक पूँजी नहीं मिली है और उन्हें पहले से संस्थापित उच्च जाति समूह के साथ प्रतिस्पर्धा में उतरना पड़ रहा है। इसलिए वे अपनी जातीय पहचान को नहीं छोड़ सकते, क्योंकि यह उनकी बहुत थोड़ी सी सामूहिक परिसंपत्तियों में से एक है। इसके आगे, वे अभी भी विभिन्न प्रकार के भेदभाव के शिकार हैं। आरक्षण की नीतियाँ और राजनीतिक दबाव में आकर राज्य द्वारा उन्हें दिए गए अन्य संरक्षण ही उनके जीवन को बचाने वाले उपाय हैं। परंतु इन जीवन रक्षक साधनों का उपयोग करना ही उनकी जाति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बना देता है और अक्सर यही उनकी पहचान का वह पक्ष होता है जिसे दुनिया मान्यता देती है।

इस प्रकार जाति रहित प्रतीत होने वाला उच्च जातीय समूह और प्रत्यक्ष रूप से जाति परिभाषित निम्न जातीय समूह इन दोनों समूहों का सन्निकट होना (पास-पास होना) ही आज की जाति संस्था का एक केंद्रीय पक्ष है।

3.2 जनजातीय समुदाय

जनजाति एक आधुनिक शब्द है जो ऐसे समुदायों के लिए प्रयुक्त होता है जो बहुत पुराने हैं और उप-महाद्वीप के सबसे पुराने निवासी हैं। भारत में जनजातियों की परिभाषा नकारात्मक शब्दों में अर्थात् वे क्या नहीं हैं यह बताकर की जाती है। जनजातियाँ ऐसे समुदाय थे जो किसी लिखित धर्मग्रंथ के अनुसार

किसी धर्म का पालन नहीं करते थे; उनका कोई सामान्य प्रकार का राज्य या राजनीतिक संगठन नहीं था; उनके समुदाय कठोर रूप में वर्गों में नहीं बँटे हुए थे; और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उनमें जाति जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी; न वे हिंदू थे और न ही किसान। 'जनजाति' शब्द का प्रयोग औपनिवेशिक युग में प्रारंभ किया गया था। समुदायों के एक अत्यंत विषम समुच्चय के लिए एक अकेले शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से ही किया गया था।

जनजातीय समाजों का वर्गीकरण

जहाँ तक सकारात्मक विशिष्टताओं का संबंध है, जनजातियों को उनके 'स्थायी' तथा 'अर्जित' विशेषकों के अनुसार विभाजित किया गया है। स्थायी विशेषकों या लक्षणों में क्षेत्र, भाषा, शारीरिक विशिष्टताएँ और पारिस्थितिक आवास शामिल हैं।

स्थायी विशेषक

भारत की जनजातीय जनसंख्या व्यापक रूप से बिखरी हुई है लेकिन कुछ क्षेत्रों में उनकी आबादी काफी घनी है। जनजातीय जनसंख्या का लगभग 85% भाग 'मध्य भारत' में रहता है जो पश्चिम में गुजरात तथा राजस्थान से लेकर पूर्व में पश्चिम बंगाल और उड़ीसा तक फैला हुआ है और जिसके हृदय-स्थल (मध्य भाग) में मध्य प्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र तथा आंध्र प्रदेश के कुछ भाग स्थित हैं। जनजातीय जनसंख्या के शेष 15% में से 11% से अधिक पूर्वोत्तर राज्यों में और बाकी के 3% से थोड़े-से अधिक शेष भारत में रहते हैं। यदि हम राज्य की जनसंख्या में जनजातियों के हिस्से पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि पूर्वोत्तर राज्यों में इनकी आबादी सबसे घनी है; वहाँ असम को छोड़कर सभी राज्यों में उनका घनत्व 30% से अधिक है और अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नागालैंड जैसे कुछ राज्यों में तो जनजातीय आबादी 60% से अधिक और 95% तक है। किंतु, देश के शेष भागों में जनजातीय जनसंख्या बहुत छोटी है यानी उड़ीसा और मध्य प्रदेश को छोड़कर शेष सभी राज्यों में 12% से कम है। इनके पारिस्थितिक आवासों में पहाड़ियाँ, वन, ग्रामीण मैदान और नगरीय औद्योगिक इलाके शामिल हैं।

भाषा की दृष्टि से, जनजातियों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनमें से दो श्रेणियों अर्थात् भारतीय-आर्य और द्रविड़ परिवार की भाषाएँ शेष भारतीय जनसंख्या द्वारा भी बोली जाती हैं और जनजातियों में से लगभग 1% लोग ही भारतीय आर्य परिवार की भाषाएँ और लगभग 3% लोग द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। दो अन्य भाषा समूह, आस्ट्रिक और तिब्बती-बर्मी, प्राथमिक रूप से जनजातीय लोगों द्वारा बोले जाते हैं, जिनमें से आस्ट्रिक परिवार की भाषाएँ पूर्ण रूप से जनजातीय लोगों द्वारा और तिब्बती-बर्मी परिवार की भाषाएँ 80% से अधिक जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं। शारीरिक-प्रजातीय दृष्टि से, जनजातियों का नीग्रिटो, आस्ट्रैलॉइड, मंगोलॉइड, द्रविड़ और आर्य श्रेणियों में वर्गीकरण किया गया है। भारत की जनसंख्या का शेष भाग भी द्रविड़ और आर्य श्रेणियों के अंतर्गत आता है।

जनसंख्या के आकार की दृष्टि से, जनजातियों में बहुत अधिक अंतर पाया जाता है, सबसे बड़ी जनजाति की जनसंख्या लगभग 70 लाख है जबकि सबसे छोटी जनजाति यानी अंडमान द्वीपवासियों की जनसंख्या शायद 100 व्यक्तियों से भी कम है। सबसे बड़ी जनजातियाँ गोंड, भील, संथाल, ओराँव, मीना, बोडो और मुंडा हैं, इनमें से सभी की जनसंख्या कम-से-कम दस लाख है। जनजातियों की कुल जनसंख्या 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की समस्त जनसंख्या का लगभग 8.2% या लगभग 8.4 करोड़ व्यक्ति है।

अर्जित विशेषक

अर्जित विशेषकों पर आधारित वर्गीकरण दो मुख्य कसौटियों आजीविका के साधन और हिंदू समाज में उनके समावेश की सीमा अथवा दोनों के सम्मिश्रण पर आधारित है।

आजीविका के आधार पर, जनजातियों को मछुआ, खाद्य संग्राहक और आखेटक (शिकारी), झूम खेती करने वाले, कृषक और बागान तथा औद्योगिक कामगारों की श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। लेकिन अकादमिक समाजशास्त्र और राजनीति तथा सार्वजनिक मामलों में अपनाए जाने वाले सबसे प्रभावी वर्गीकरण इस बात पर आधारित हैं कि हिंदू समाज में अमुक जनजाति को कहाँ तक आत्मसात् किया गया है। इस आत्मसात्करण को जनजातियों के दृष्टिकोण से अथवा (जैसाकि अक्सर होता है) प्रबल हिंदू मुख्यधारा के दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। जनजातियों के दृष्टिकोण से, आत्मसात्करण की सीमा के अलावा, हिंदू समाज के प्रति अभिवृत्ति (रुख) भी एक बड़ी कसौटी है क्योंकि जनजातियों की अभिवृत्तियों के बीच काफ़ी अंतर होता है–कुछ जनजातियों का हिंदुत्व की ओर सकारात्मक झुकाव होता है जबकि कुछ जनजातियाँ उसका प्रतिरोध या विरोध करती हैं। मुख्यधारा के दृष्टिकोण से, जनजातियों को हिंदू समाज में मिली प्रस्थिति की दृष्टि से भी देखा जा सकता है जिसमें कुछ को तो ऊँचा स्थान दिया जाता है पर अधिकांश को आमतौर पर नीचा स्थान ही मिलता है।

जनजाति : एक संकल्पना की जीवनी

1960 के दशक में विद्वानों के बीच इस प्रश्न को लेकर वाद-विवाद होता रहा कि क्या जनजातियों को जाति आधारित (हिंदू) कृषक समाज के एक सिरे का विस्तार माना जाए अथवा वे पूर्ण रूप से एक भिन्न प्रकार का समुदाय है। जो विद्वान विस्तार के पक्ष में थे उनका कहना था कि जनजातियाँ जाति आधारित कृषक समाज से मौलिक रूप से भिन्न नहीं हैं, लेकिन उनमें स्तरीकरण बहुत कम हुआ है (अधिक्रम के स्तर कम हैं) और संसाधनों के स्वामित्व के मामले में वे समुदाय आधारित अधिक और व्यक्ति आधारित कम हैं। किंतु, उनके विरोधी पक्ष का कहना था कि जनजातियाँ जातियों से पूरी तरह भिन्न होती हैं क्योंकि उनमें धार्मिक या कर्मकांडीय दृष्टि से शुद्धता और अशुद्धता का भाव नहीं होता जो कि जाति व्यवस्था का केंद्र-बिंदु है।

संक्षेप में, जनजाति और जाति के बीच के अंतर को दर्शाने वाला तर्क शुद्धता या शुचिता तथा अशुद्धता या अशुचिता और अधिक्रमिक एकीकरण में विश्वास रखने वाली हिंदू जातियों और अपेक्षाकृत अधिक समतावादी और नातेदारी आधारित सामाजिक संगठन की रीतियों वाली जीववादी (animist) जनजातियों के बीच माने गए सांस्कृतिक अंतर पर आधारित था।

1970 के दशक तक आते-आते, जनजाति की सभी प्रमुख परिभाषाएँ दोषपूर्ण दिखाई देने लगीं। यह दर्शाया गया कि जनजाति और कृषक समुदाय के बीच किया गया अंतर सामान्य रूप से अपनाई गई कसौटियों–आकार, पृथक्करण, धर्म और आजीविका के साधनों में से किसी भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। संथाल, गोंड और भील जैसी कुछ भारतीय 'जनजातियाँ' बहुत बड़ी हैं और काफ़ी विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई हैं। मुंडा, हो जैसी कुछ अन्य जनजातियाँ काफ़ी समय से एक स्थान पर बसकर खेती करने लगीं हैं और यहाँ तक कि बिहार की बिरहोर जैसी शिकारी-संग्राहक जनजातियों ने भी विशेष प्रकार के घर बसा लिए हैं जहाँ रहकर वे टोकरियाँ बुनती हैं और तेल निकालने जैसे अन्य कार्य करती हैं। कुछ अनेक मामलों में यह भी इंगित किया गया है कि अन्य विकल्पों के अभाव में, 'जातियों' (या गैर जनजातीय लोगों) ने शिकार और संग्रहण का पेशा अपना लिया है।

जाति और जनजाति के बीच के अंतरों पर जो चर्चा हुई उसके साथ ही उन प्रक्रियाओं तथा उपायों के विषय में काफ़ी बड़ा साहित्य तैयार किया गया जिनके माध्यम से भिन्न-भिन्न युगों में जनजातियों को हिंदू समाज में आत्मसात् किया गया। ये प्रक्रियाएँ थीं: संस्कृतिकरण, सवर्ण हिंदुओं द्वारा विजय के बाद विजितों को शूद्रवर्णों के अंतर्गत शामिल करना, परसंस्कृतिग्रहण (acculturation) और अन्य प्रक्रियाओं द्वारा। भारतीय इतिहास के संपूर्ण विस्तार में यह अक्सर देखने को मिलता है कि विभिन्न जनजातीय समूहों को हिंदू समाज के जातीय अधिक्रम में विभिन्न स्तरों पर आत्मसात् कर लिया गया, क्योंकि ज़मीनों पर बस्तियाँ बसा दी गई और जंगलों का सफाया कर दिया गया। इसे या तो स्वाभाविक तथा समानांतर प्रक्रिया के रूप में देखा गया जिसके द्वारा सभी समूहों का पंथों के रूप में हिंदुत्व में आत्मसात्मीकरण कर लिया गया या इसे शोषणात्मक प्रक्रिया माना गया। मानवविज्ञानियों की प्रारंभिक शाखा के लेखकों ने मुख्यधारा में जनजातियों के समावेश के सांस्कृतिक पक्षों पर अधिक बल दिया जबकि परवर्ती लेखकों ने सम्मिलित करने के शोषणात्मक तथा राजनीतिक स्वरूप पर अपना लेखन केंद्रित किया है।

कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि जनजातियों को ऐसे 'आदिम' (prestine) अर्थात् मौलिक अथवा विशुद्ध-समाज, जो सभ्यता से अछूते रहे हों, मानने का कोई सुसंगत आधार नहीं है। इसके स्थान पर उनका यह प्रस्ताव है कि जनजातियों को वास्तव में ऐसी 'द्वितीयक' प्रघटना माना जाए जो पहले से विद्यमान राज्यों और जनजातियों जैसे राज्येतर समूहों के बीच शोषणात्मक और उपनिवेशवादी संपर्क के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया। ऐसा संपर्क स्वयं ही एक 'जनजातिवादी' विचारधारा को जन्म देता है–जनजातीय समूह नए संपर्क में आए अन्य लोगों से अपने-आपको अलग दर्शाने के लिए स्वयं को जनजाति के रूप में परिभाषित करने लगते हैं।

फिर भी यह आम धारणा कि जनजातीय समुदाय उन प्रस्तर युगीन आखेटक और संग्राहक समाजों के समान हैं जो सामयिक परिवर्तनों से अछूते रहे हैं अभी भी सामान्य तौर पर विद्यमान है हालाँकि, काफ़ी लंबे समय से यह सच नहीं रहा है। आइए, सर्वप्रथम आदिवासियों पर ही विचार करें, आदिवासी लोग सदा इतने पीड़ित समूह नहीं थे जितने वे आज हैं। मध्य भारत में अनेक गोंड राज्य रहे हैं जैसे, गढ़ मांडला या चाँदा। मध्यवर्ती तथा पश्चिमी भारत के तथाकथित राजपूत राज्यों में से अनेक रजवाड़े वास्तव में स्वयं आदिवासी समुदायों में स्तरीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही उत्पन्न हुए। आदिवासी लोग अक्सर अपनी आक्रामक क्षमता और स्थानीय सैन्य दलों में अपनी सेवाओं के माध्यम से मैदानी इलाकों के लोगों पर अपने प्रभुत्व का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा, वे कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं का व्यापार भी करते थे जिसके अंतर्गत वे वन्य उत्पाद, नमक और हाथी बेचा करते थे। इसके अतिरिक्त, जब वन्य संसाधनों और खनिजों

का दोहन करने और सस्ते श्रमिकों की भर्ती करने के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अभियान चला तो उसने काफ़ी समय पहले जनजातीय समाजों को मुख्यधारा वाले समाज के संपर्क में ला दिया।

मुख्यधारा के समुदायों का जनजातियों के प्रति रवैया

हालाँकि, औपनिवेशिक युग की प्रारंभिक मानववैज्ञानिक कृतियों में जनजातियों को एकाकी असंपृक्त समुदायों के रूप में वर्णित किया गया था, लेकिन उपनिवेशवाद उनकी दुनिया में पहले ही अटल परिवर्तन ला चुका था। राजनीतिक और आर्थिक मोर्चे पर, जनजातीय समाजों को पैसा उधार देने वाले तथाकथित साहूकारों की घुसपैठ का सामना करना पड़ रहा था। साथ ही, वे गैर-जनजातीय अप्रवासी, एक जगह पर बस जाने वाले लोगों के हाथों अपनी ज़मीनें खोते जा रहे थे और वनों के आरक्षण की सरकारी नीति और खनन कार्यों का प्रारंभ हो जाने से वनों तक उनकी पहुँच भी खत्म होती जा रही थी। अन्य इलाकों के विपरीत, जहाँ भूमि का लगान ही अतिरिक्त आय का प्राथमिक स्रोत था, इन पहाड़ी और जंगली इलाकों में, वनों और खनिजों जैसे प्राकृतिक संसाधनों का विनियोजन ही अधिकतर औपनिवेशिक सरकार के लिए आय का प्रमुख स्रोत था। 18वीं तथा 19वीं शताब्दियों में जनजातीय इलाकों में अनेक विद्रोह हो जाने के बाद, औपनिवेशिक सरकार ने 'अपवर्जित' (excluded) और 'आंशिक अपवर्जित' (partially exluded) इलाके निर्धारित घोषित कर दिए जहाँ गैर-जनजातीय लोगों का प्रवेश पूरी तरह निषिद्ध या विनियमित था। ब्रिटिश सरकार इन इलाकों में स्थानीय राजाओं या मुखियाओं के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से शासन चलाने के पक्ष में थी।

1940 के दशक में पृथक्करण (isolation) बनाम एकीकरण (integration) विषय पर जो प्रसिद्ध वाद-विवाद चला वह जनजातीय समाजों की पृथक्कृत संपूर्ण अस्तित्व की मानक तस्वीर पर ही आधारित था। पृथकतावादी पक्ष का कहना था कि जनजातीय लोगों को व्यापारियों, साहूकारों और हिंदू तथा ईसाई धर्मप्रचारकों से बचाए रखने की आवश्यकता है क्यों ये सभी लोग जनजातियों का अलग अस्तित्व मिटाकर उन्हें भूमिहीन श्रमिक बनाना चाहते हैं। दूसरी ओर, एकीकरणवादी पक्ष का कहना था कि जनजातीय लोग पिछड़े हुए हिंदू ही हैं और उनकी समस्याओं का समाधान उसी परिधि रूपरेखा के भीतर खोजा जाए जो अन्य पिछड़े वर्गों के मामले में निर्धारित की गई है। इस विरोधी पक्ष का संविधान सभा के वाद-विवादों में बोलबाला रहा और अंततः समझौते के तौर पर यह तय किया गया कि जनजातियों के कल्याण के लिए ऐसी योजनाएँ बनाई जाएँ जिनके माध्यम से उनका नियंत्रित एकीकरण संभव हो जाए। इसलिए बाद में जनजातीय विकास की जो भी योजनाएँ बनाई गई जैसे, पंचवर्षीय योजनाएँ, जनजातीय उप-योजनाएँ, जनजातीय कल्याण खंड, विशेष बहुप्रयोजनी क्षेत्र योजनाएँ, वे सभी इसी सोच पर आधारित रही हैं। लेकिन यहाँ बुनियादी मुद्दा यह है कि जनजातियों के एकीकरण ने उनकी अपनी आवश्यकताओं या इच्छाओं की उपेक्षा की है, एकीकरण मुख्यधारा के समाज की शर्तों पर और उन्हीं को लाभान्वित करने के लिए होता रहा है। जनजातीय समाजों से उनकी ज़मीनें और वन छीन लिए गए हैं और विकास के नाम पर उनके समुदायों को छिन्न-भिन्न कर दिया गया है।

राष्ट्रीय विकास बनाम जनजातीय विकास

'विकास' की अनिवार्यताओं ने जनजातियों के प्रति राज्य के रुख या अभिवृत्तियों को शासित किया है और राज्य की नीतियों को आकार दिया है। राष्ट्रीय विकास के नाम पर, विशेष रूप से नेहरू युग में, बड़े-बड़े बाँध बनाए गए, कारखाने स्थापित किए गए और खानों की खुदाई शुरू की गई। क्योंकि जनजातीय इलाके

देश के खनिज-संपन्न और वनाच्छादित भागों में स्थित थे इसलिए जनजातीय लोगों को शेष भारतीय समाज के विकास के लिए अनुपात से बहुत अधिक कीमत चुकानी पड़ी। इस प्रकार के विकास से, जनजातियों की हानि की कीमत पर मुख्यधारा के लोग लाभान्वित हुए। खनिजों के दोहन और जल विद्युत संयंत्रों की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थलों के उपयोग, जिनमें से अनेक स्थल जनजातीय इलाकों में स्थित थे, का एक आवश्यक उप-उत्पाद यह था कि जनजातीय लोगों से उनकी ज़मीनें छिनने की प्रक्रिया शुरू हो गई।

अधिकांश जनजातीय समुदाय वनों पर आश्रित थे, इसलिए वन छिन जाने से उन्हें भारी धक्का लगा। वनों का दोहन (कटाई) तो सुव्यवस्थित रूप से ब्रिटिश काल में ही प्रारंभ हो गया था और वह प्रवृत्ति स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी जारी रही। ज़मीनों पर निजी मालिकाना हक (स्वामित्व) दिए जाने से भी जनजातीय लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि उनके यहाँ समुदाय आधारित सामूहिक स्वामित्व की प्रथा थी और उसके स्थान पर नयी व्यवस्था लागू किए जाने से उन्हें हानि उठानी पड़ी। इसका एक सबसे ताजा उदाहरण नर्मदा पर बनाए जा रहे बाँधों की शृंखला है जहाँ अधिकांश कीमत, अर्थात् जिन लोगों को इसकी वजह से हानि हुई है, और लाभ असंगत-अनुपात में विभिन्न समुदायों और क्षेत्रों को मिल रहे हैं।

जनजातीय लोगों की घनी आबादी वाले अनेक क्षेत्रों और राज्यों को विकास के दबाव के कारण गैर-जनजातीय लोगों के भारी संख्या में अप्रवास (आकर बसने) की समस्या से भी जूझना पड़ रहा है। इससे जनजातीय समुदायों के छिन्न-भिन्न होने और दूसरी संस्कृतियों के हावी हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। उदाहरण के लिए, झारखंड के औद्योगिक इलाकों में वहाँ की जनसंख्या में जनजातीय अनुपात कम हो गया है। लेकिन सबसे अधिक नाटकीय स्थिति संभवत: पूर्वोत्तर क्षेत्र में उत्पन्न हुई है। वहाँ त्रिपुरा जैसे राज्य की जनसंख्या में जनजातीय लोगों का अनुपात एक ही दशक में घटकर आधा रह गया, जिसके परिणामस्वरूप वे अल्पसंख्यक बन गए। अरुणाचल प्रदेश में भी ऐसा ही दबाव महसूस किया जा रहा है।

समकालीन जनजातीय पहचान

मुख्यधारा की प्रक्रियाओं में जनजातीय समुदायों के बलात् समावेश का प्रभाव जनजातीय संस्कृति तथा समाज पर ही नहीं बल्कि उनकी अर्थव्यवस्था पर भी समान रूप से पड़ा है। आज जनजातीय पहचानें, उन जनजातियों की आदिम (मौलिक, प्राचीन) विशिष्टताओं जो कि सिर्फ़ जनजातियों की होती थी की बजाय, इस अंत:क्रियात्मक प्रक्रिया से बन रही हैं। चूँकि मुख्यधारा के साथ अंत:क्रिया आमतौर पर जनजातीय समुदायों के लिए अनुकूल शर्तों पर नहीं होती, इसलिए आज अनेक जनजातीय पहचानें गैर-जनजातीय जगत की दुर्दमनीय शक्ति का प्रतिरोध एवं विरोध करने के विचारों पर अपना ध्यान केंद्रित कर रही हैं।

एक लंबे संघर्ष के बाद झारखंड और छत्तीसगढ़ को अलग-अलग राज्य का दर्जा मिल गया है; लेकिन ऐसी सफलताओं का सकारात्मक प्रभाव पहले से चली आ रही समस्याओं के कारण तिरोहित हो गया है। उदाहरण के लिए, पूर्वोत्तर क्षेत्र के अनेक राज्य कई दशकों से ऐसे विशेष कानूनों के अंतर्गत, जिनसे वहाँ के निवासियों की नागरिक स्वतंत्रताएँ सीमित हो रही हैं, अपना जीवनयापन कर रहे हैं। इस प्रकार, मणिपुर या नागालैंड जैसे राज्यों के नागरिकों को वे अधिकार प्राप्त नहीं हैं जो भारत के अन्य नागरिकों को प्राप्त हैं क्योंकि उनके राज्यों को 'उपद्रवग्रस्त क्षेत्र' घोषित किया जा चुका है। पहले सशस्त्र विद्रोह फिर उनके दमन के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कठोर कदम और फिर उनसे भड़के विद्रोहों के दुश्चक्र ने पूर्वोत्तर राज्यों की अर्थव्यवस्था, संस्कृति और समाज को भारी हानि पहुँचाई है। देश के एक अन्य भाग में झारखंड और छत्तीसगढ़ को अपने नवार्जित राज्यत्व का अभी पूरा-पूरा उपयोग करना है और वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था अभी तक बड़ी संरचनाओं के शिकंजे से निकलकर, जिनमें जनजातीय लोग शक्तिहीन हैं, स्वायत्त नहीं हुई हैं।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण विकास जनजातीय समुदायों में शनैः-शनैः एक शिक्षित मध्य वर्ग का उद्‌भव है। पूर्वोत्तर राज्यों में तो यह वर्ग सर्वाधिक दृष्टिगोचर हो रहा है, लेकिन अब यह देश के अन्य भागों में भी, विशेषकर बड़े जनजातीय समुदायों के सदस्यों में साफ़ दिखाई देने लगा है। आरक्षण की नीतियों के साथ मिलकर (जिनके बारे में आप पाँचवें अध्याय में कुछ अधिक जान सकेंगे), शिक्षा एक नगरीकृत व्यावसायिक वर्ग का निर्माण कर रही है। ज्यों-ज्यों जनजातीय समाजों में अधिकाधिक अंतर बढ़ता जाएगा अर्थात् उनके भीतर वर्गों एवं विभाजनों का विकास होता जाएगा, त्यों-त्यों जनजातीय पहचान का दावा किए जाने के लिए भिन्न-भिन्न आधार विकसित होते चले जाएँगे।

दो प्रकार के मुद्दों ने जनजातीय आंदोलनों को तूल देने में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एक प्रकार के मुद्दे वे हैं जो भूमि तथा विशेष रूप से वनों जैसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण से संबंधित हैं और दूसरे प्रकार के मुद्दों का संबंध नृजातीय-सांस्कृतिक पहचान के मामलों से है। यह दो मुद्दे अक्सर साथ-साथ चल सकते हैं, परंतु जनजातीय समाज में विभिन्नताएँ होने से ये अलग-अलग भी हो सकते हैं। जनजातीय समाजों में मध्यवर्गीय लोगों द्वारा अपनी जनजातीय पहचान का दावा किए जाने के कारण उन कारणों से भिन्न हो सकते हैं जिनके लिए गरीब और अशिक्षित जनजातीय लोग जनजातीय आंदोलनों में हिस्सा लेते हैं। जैसाकि किसी भी अन्य समुदाय के साथ होता है, इस प्रकार की आंतरिक गतिशीलताओं और बाह्य शक्तियों के बीच के संबंध ही इनके भविष्य को रूप प्रदान करेंगे।

बॉक्स 3.1

जनजातीय पहचान को सुरक्षित रखने का आग्रह दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह हो सकता है कि जनजातीय समाज के भीतर भी एक मध्य वर्ग का प्रादुर्भाव हो चला है। विशेष रूप से इस वर्ग के प्रादुर्भाव के साथ ही, संस्कृति, परंपरा, आजीविका यहाँ तक कि भूमि तथा संसाधनों पर नियंत्रण और आधुनिकता की परियोजनाओं के लाभों में हिस्से की माँगें भी जनजातियों में अपनी पहचान को सुरक्षित रखने के आग्रह का अभिन्न अंग बन गई हैं। इसलिए अब जनजातियों में उनके मध्य वर्गों से एक नई जागरूकता की लहर आ रही है। ये मध्य वर्ग स्वयं भी आधुनिक शिक्षा और आधुनिक व्यवसायों का परिणाम है, जिन्हें सरकार की आरक्षण नीतियों से बल मिला है...

स्रोतः वर्जीनियस खाखा, *कल्चर, पॉलिटिक्स एंड आइडेंटिटी: द केस ऑफ ट्राइब्स इन इंडिया,* जॉन 2006

3.3 परिवार और नातेदारी

हममें से हर कोई एक परिवार में उत्पन्न हुआ है और हममें से अधिकांश लोग परिवार में अनेक वर्ष बिताते हैं। आमतौर पर हम अपने परिवार से गहरा लगाव महसूस करते हैं। कभी-कभी हम अपने माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, सहोदर भाई-बहनों, चाचा-चाचियों, मामा-मामियों तथा चचेरे-ममेरे भाइयों-बहनों के बारे में बहुत अच्छा महसूस करते हैं, जबकि दूसरों के बारे में हम ऐसा महसूस नहीं करते। एक ओर तो हम उनके हस्तक्षेप के लिए अप्रसन्नता या रोष प्रकट करते हैं, फिर भी जब हम उनसे दूर रहते हैं तो उनके रोबदाबपूर्ण तरीकों के लिए तरसते हैं और उन्हें याद करते हैं। परिवार गहरे स्नेह एवं देखभाल का स्थान है। दूसरी ओर, यह कटु संघर्षों, अन्याय और हिंसा का स्थान भी हो सकता है। परिवार और नातेदारी में मादा शिशु की हत्या, संपत्ति के लिए भाइयों के बीच हिंसापूर्ण लड़ाई-झगड़े और घिनौने कानूनी विवाद भी इसका वैसे ही एक हिस्सा होते हैं जैसे प्यार, त्याग एवं बलिदान, पारस्परिक सुरक्षा एवं देखभाल की कहानियाँ हैं।

परिवार की संरचना का अध्ययन इसके एक सामाजिक संस्था के रूप में और समाज की अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ उसके संबंधों के बारे में, दोनों ही रूप में किया जा सकता है। स्वयं परिवार को मूल परिवार अथवा विस्तृत परिवार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसका मुखिया (कर्ता) एक पुरुष या स्त्री भी हो सकती है। वंशानुक्रम की दृष्टि से परिवार मातृवंशीय अथवा पितृवंशीय हो सकता है। परिवार की यह आंतरिक संरचना आमतौर पर, समाज की अन्य संरचनाओं जैसे राजनीतिक, आर्थिक,

बॉक्स 3.2

प्रस्तुत अध्ययन...मुलतानी लोहार कही जाने वाली एक मुस्लिम बिरादरी से संबंधित है।... कारखानेदार एक देशी भाषा का शब्द है जिसका प्रयोग एक ऐसे व्यक्ति के लिए किया जाता है जो ऐसे निर्माण व्यवसाय में संलग्न हो जिसका आमतौर पर वह खुद मालिक हो ... कारखाने, जिनका अध्ययन किया गया है, घरेलू परिस्थितियों में चलाए जाते हैं और इसलिए उनका उन कारखानेदारों की ज़िंदगी पर व्यापक प्रभाव पड़ता है जो उन कारखानों में काम करते हैं।... निम्नलिखित मामला इस स्थिति का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

महमूद, उम्र चालीस साल, अपने दो छोटे भाइयों के साथ रहता था, जिनमें से एक की शादी हो चुकी थी। महमूद के तीन बच्चे थे और वह उस मिश्रित परिवार का मुखिया था। ... सभी तीनों भाई विभिन्न कारखानों और फैक्ट्रियों में कुशल कामगार के रूप में काम करते थे। महमूद एक ऐसे मोटर पुर्जे की प्रतिकृति (नकली पुर्जा) बनाने में सफल हो गया जिसका आयात प्रतिबंधित था। अपनी इस सफलता से प्रोत्साहित होकर उसने अपना खुद का कारखाना चालू कर दिया ... आगे चलकर, यह फ़ैसला किया गया कि उस मोटर पार्ट को बनाने के लिए दो कारखाने लगाए जाएँ। इनमें से एक कारखाने के मालिक दोनों बड़े भाई हों और सबसे छोटे भाई को दूसरे कारखाने का मालिक बना दिया जाए, बशर्ते कि वह अपना अलग घर बसा ले। रशीद ने अपनी पत्नी और अविवाहित बच्चों को लेकर स्वतंत्र रूप से अपना अलग घर बसा लिया। इस प्रकार, एक मिश्रित परिवार ने, जिसमें तीन शादीशुदा भाई थे, एक साधारण छोटे से परिवार को पैदा कर दिया। यह नया छोटा परिवार नए उद्यमी अवसरों की देन था।

स्रोत: एस.एम. अकरम रिजवी के 'किनशिप एंड इंडस्ट्री अमंग द मुस्लिम कारखानेदार्स इन देहली', इमतियाज अहमद द्वारा संपा. *फैमिली किनशिप एंड मैरिज अमंग मुस्लिम्स इन इंडिया'* 1976, मनोहर, पृ. 27-48 नई दिल्ली से उद्धृत

सांस्कृतिक आदि संरचनाओं से जुड़ी होती है। इस प्रकार, हिमालयी क्षेत्र के गाँवों से पुरुषों के प्रवसन से उस गाँव में ऐसे परिवारों का अनुपात असामान्य रूप से बढ़ सकता है जिनकी मुखिया स्त्रियाँ हैं। या भारत के सॉफ्टवेयर उद्योग में कार्य कर रहे युवा माता-पिता का कार्य-समय ऐसा हो कि वे अपने बच्चों की देखभाल ठीक से न कर सकें तो वहाँ दादा-दादियों तथा नाना-नानियों की संख्या बढ़ जाएगी क्योंकि उन्हें ही वहाँ आकर बच्चों की देखभाल करनी होगी। इस प्रकार, परिवार की संरचना अथवा उसके गठन में परिवर्तन हो जाता है। और इन परिवर्तनों को समाज में होने वाले अन्य परिवर्तनों के संदर्भ में समझा जा सकता है। परिवार (निजी क्षेत्र) आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक (सार्वजनिक) क्षेत्रों से जुड़ा होता है।

परिवार हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है। हमारे लिए इसका अस्तित्व स्वत: स्वीकृत है। हम यह भी मानकर चलते हैं कि अन्य लोगों के परिवार भी हमारे परिवार की तरह ही होंगे। (परिवार के इस आयाम और अन्य आयामों पर भी ग्यारहवीं कक्षा की पाठ्यपुस्तक 'समाजशास्त्र परिचय' के तीसरे अध्याय में चर्चा की जा चुकी है)। तथापि हमने देखा है कि परिवारों की संरचनाएँ भिन्न-भिन्न होती है और यह बदलती भी रहती हैं। यह परिवर्तन कभी-कभी तो आकस्मिक तौर पर होते रहते हैं जब कोई लड़ाई छिड़ जाती है अथवा लोग काम की तलाश में अन्यत्र जा बसते हैं। कभी-कभी यह परिवर्तन किसी विशेष प्रयोजन के लिए किए जाते हैं, जैसे कि जब युवा लोग बुजुर्गों द्वारा उनके लिए जीवन-साथी का चुनाव करने के बजाय स्वयं ही अपने जीवन-साथी का चुनाव कर लेते हैं। अथवा जब समाज में समलैंगिक प्यार का खुले तौर पर इजहार किया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार के परिवर्तनों से यह स्पष्ट है कि परिवार की संरचनाओं में ही बदलाव नहीं आता बल्कि सांस्कृतिक विचार, मानकों और मूल्यों में भी परिवर्तन होते हैं। किंतु, इस प्रकार के परिवर्तन लाना आसान नहीं होता। इतिहास और आधुनिक काल की घटनाओं से पता चलता है कि अक्सर पारिवारिक और वैवाहिक प्रतिमानों में किए जाने वाले परिवर्तनों का घोर हिंसात्मक विरोध किया जाता है। इस संबंध में परिवार के भी कई आयाम होते हैं। किंतु भारत में, परिवार विषयक चर्चाएँ अक्सर मूल और विस्तृत परिवार के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं।

मूल एवं विस्तारित परिवार

मूल परिवार में माता-पिता (एक दंपति) और उनके बच्चे ही शामिल होते हैं। विस्तृत परिवार (जिसे आमतौर पर 'संयुक्त परिवार' कहा जाता है) के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, लेकिन उनमें एक से अधिक युगल (दंपति) होते हैं और अक्सर दो से अधिक पीढ़ियों के लोग एकसाथ रहते हैं। इसमें कई भाई भी हो सकते हैं जो अपने-अपने परिवारों को लेकर संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में रहते हैं या एक बुजुर्ग दंपति जो अपने बेटों, पोतों, उनके परिवारों के साथ रहते हों। विस्तृत परिवार अक्सर भारतीय होने का सूचक माना जाता है। लेकिन अब, बल्कि पहले भी यह किसी भी अर्थ में परिवार का प्रमुख रूप नहीं रहा है। यह समुदाय के कुछ अनुभागों या कतिपय क्षेत्रों तक ही सीमित था। वास्तव में, अंग्रेज़ी का 'ज्वाइंट फैमिली' (Joint family) शब्द ही, जिसे हिंदी में 'संयुक्त परिवार' कहा जाता है, देशज नहीं है। जैसाकि आई. पी. देसाई ने कहा है, "अंग्रेज़ी का 'ज्वाइंट फैमिली' शब्द किसी भी ऐसे भारतीय शब्द का अनुवाद नहीं है। यह बात रुचिकर है कि अधिकांश भारतीय भाषाओं में संयुक्त परिवार के लिए प्रयुक्त शब्द अंग्रेज़ी भाषा के 'ज्वाइंट फैमिली' शब्द का ही अनुवादित पर्याय है" (देसाई 1964:40)।

परिवार के विविध रूप

अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि विभिन्न समाजों में किस तरह विविध प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। आवास के नियम के अनुसार कुछ समाज विवाह और पारिवारिक प्रथाओं के मामले में पत्नी–स्थानिक और कुछ पति–स्थानिक होते हैं। पहली स्थिति में नवविवाहित जोड़ा वधू के माता–पिता के साथ रहता है और दूसरी स्थिति में, वर के माता–पिता के साथ। उत्तराधिकार के नियम के अनुसार, मातृवंशीय समाज में जायदाद माँ से बेटी को मिलती है और पितृवंशीय समाज में पिता से पुत्र को। पितृतंत्रात्मक परिवार संरचना में पुरुषों की सत्ता व प्रभुत्व होता है और मातृतंत्रात्मक परिवार संरचना में स्त्रियाँ समान प्रभुत्वकारी भूमिका निभाती हैं। हालाँकि पितृतंत्र के विपरीत मातृतंत्र एक अनुभाविक संकल्पना की बजाय एक सैद्धांतिक कल्पना है। मातृतंत्र का कोई ऐतिहासिक या मानवशास्त्रीय प्रमाण नहीं है अर्थात् ऐसा समाज नहीं है जहाँ स्त्रियाँ प्रभुत्वशाली हों। हालाँकि मातृवंशीय समाज अवश्य पाए जाते हैं अर्थात् ऐसे समाज जहाँ स्त्रियाँ अपनी माताओं से उत्तराधिकार के रूप में जायदाद पाती हैं परंतु उस पर उनका अधिकार नहीं होता और न ही सार्वजनिक क्षेत्र में उन्हें निर्णय लेने का कोई अधिकार होता है।

बॉक्स 3.3 में दिया खासी मातृवंश का विवरण मातृवंश और मातृतंत्र के बीच के अंतर को स्पष्ट करेगा। यह विवरण मातृवंश द्वारा उत्पन्न उन संरचनात्मक तनावों के बारे में भी बतायेगा जिससे समकालीन खासी समाज के पुरुष और स्त्रियाँ प्रभावित हैं।

बॉक्स 3.3

मेघालय उत्तराधिकार अधिनियम (मेघालय विधानसभा, जिसके सभी सदस्य पुरुष ही थे, द्वारा पारित) को 1986 में राष्ट्रपति से स्वीकृति मिली। अधिनियम विशेष तौर पर खासी और जैन्तिया जनजाति पर लागू होता है और 'उस खासी या जैन्तिया व्यक्ति पर मान्य है जो बुद्धि से सबल है और अल्पआयु नहीं है; उस व्यक्ति को अपनी खुद की बनाई हुए जायदाद की वसीयत बनाने का अधिकार है'।
वसीयत बनाने की प्रथा, खासियों में नहीं है। खासी प्रथा मातृ वंशज के आधार पर जायदाद को अमुक स्त्री को सुपुर्द किए जाने की बात करती है।

खासियों में, विशेषत: पढ़े-लिखे खासियों को ऐसा प्रतीत होता है कि उनके संबंधों और उत्तराधिकार के नियम, स्त्रियों के पक्ष में हैं और अपने आप में सीमित भी हैं। अत: यह अधिनियम खासी परंपरा में व्याप्त महिलाओं के पक्ष में किए गए पक्षपात को ठीक कर इस सीमितता को समाप्त करने का एक प्रयास है। यह परखने के लिए कि क्या ये प्रचलित बोधता–जो खासी परंपरा में स्त्रियों के प्रति पक्षपात की बात करती है, सही है कि नहीं, यह ज़रूरी है कि खासी मातृवंशीय व्यवस्था को व्यावहारिक लिंग-संबंधों और लिंग भूमिकाओं की परिभाषाओं के संदर्भ में देखा जाए।

कई विशेषज्ञों ने मातृवंशीय व्यवस्थाओं में अंतर्निहित विरोधाभासों पर ध्यान केंद्रित किया है। एक ऐसा विरोधाभास वंशानुक्रम की रेखा और उत्तराधिकार एवं नियंत्रण और सत्ता की संरचना के अलगाव से उत्पन्न होता है। पहला संदर्भ जो माँ और बेटी को जोड़ता है वह दूसरे संदर्भ के आ जाने से प्रतिद्वंद्विता की उत्पत्ति होती है जो माँ के भाई को बहन के बेटे से जोड़ता है [दूसरे शब्दों में, एक स्त्री अपने माँ से जायदाद उत्तराधिकार में पाती है और आगे अपनी बेटी को देती है, जबकि एक पुरुष अपनी बहन की जायदाद पर नियंत्रण रखता है, और वो नियंत्रण अपनी बहन के बेटे को देता है। इस तरह संपत्ति का कानूनी उत्तराधिकार तो माँ से बेटी को जाता है पर व्यावहारिक रूप में यह अधिकार मामा से भानजे को जाता है]।
खासी मातृवंश पुरुषों के लिए गहन भूमिका द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न करता है। वो अपनी पत्नी और बच्चों एवं जन्म के घर की ज़िम्मेदारियों के बीच बँट जाते हैं। एक तरह से भूमिका-द्वंद्व द्वारा उत्पन्न इस तनाव का असर खासी स्त्रियों पर बहुत ज़्यादा पड़ता है। एक स्त्री कभी सुनिश्चित नहीं कर सकती कि उसके पति को उसकी बहन का घर ज़्यादा अच्छा लगता है या अपना स्वयं का। उसी तरह बहन सोचेगी कि शादीशुदा भाई अपनी बहन के प्रति ज़िम्मेदारियों को भूल जाएगा।
खासी मातृवंशीय व्यवस्था में उत्पन्न भूमिका-द्वंद्व से पुरुषों की बजाय अंतत: स्त्रियाँ ज़्यादा गहन रूप से प्रभावित होती हैं, सिर्फ़ इसलिए नहीं क्योंकि पुरुष अधिकारों के स्वामी हैं और स्त्रियाँ इससे वंचित हैं पर इसलिए भी क्योंकि समाज पुरुषों को नियम तोड़ने पर उन्हें कम सज़ा देता है या नज़र अंदाज़ कर देता है। खासी समाज में स्त्रियों के पास सिर्फ़ नाम का अधिकार होता है–असली अधिकार पुरुषों के हाथ में होता है। हाँ, इतना ज़रुर है कि यह व्यवस्था पुरुष के मातृ-नातेदार की तरफ़ झुकी हुई है न कि पितृ-नातेदार की तरफ़। (दूसरे शब्दों में मातृवंश के बावजूद, पुरुष ही खासी समाज में शक्ति के स्वामी हैं; सिर्फ़ एक अंतर है कि एक पुरुष के लिए उसकी माँ की तरफ़ के रिश्तेदारों का उसके पिता की तरफ़ के रिश्तेदारों से ज़्यादा महत्त्व होता है)।

स्रोत: तिपलुत नोंगब्री के लेख 'जेन्डर एंड द खासी फैमिली स्ट्रक्चर', ओबरॉय द्वारा संपा. 1994 से उद्धृत

प्रश्नावली

1. जाति व्यवस्था में पृथक्करण (separation) और अधिक्रम (hierachy) की क्या भूमिका है?
2. वे कौन से नियम हैं जिनका पालन करने के लिए जाति व्यवस्था बाध्य करती है? कुछ के बारे में बताइए?
3. उपनिवेशववाद के कारण जाति व्यवस्था में क्या-क्या परिवर्तन आए?
4. किन अर्थों में नगरीय उच्च जातियों के लिए जाति अपेक्षाकृत 'अदृश्य' हो गई है?
5. भारत में जनजातियों का वर्गीकरण किस प्रकार किया गया है?
6. 'जनजातियाँ आदिम समुदाय हैं जो सभ्यता से अछूते रहकर अपना अलग-थलग जीवन व्यतीत करते हैं', इस दृष्टिकोण के विपक्ष में आप क्या साक्ष्य प्रस्तुत करना चाहेंगे?
7. आज जनजातीय पहचानों के लिए जो दावा किया जा रहा है उसके पीछे क्या कारण हैं?
8. परिवार के विभिन्न रूप क्या हो सकते हैं?
9. सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन पारिवारिक संरचना में किस प्रकार परिवर्तन ला सकते हैं?
10. मातृवंश (matriliny) और मातृतंत्र (matriarachy) में क्या अंतर है? व्याख्या कीजिए।

संदर्भ ग्रंथ

देशपांडे, सतीश. 2003. *कंटम्प्रेरी इंडिया: ए सोसियोलॉजीकल व्यू.* पैंगुइन बुक्स. नयी दिल्ली।

गुप्ता, दीपांकर. 2000. *इंटेरोगेटिंग कास्ट.* पैंगुइन बुक्स. नयी दिल्ली।

शर्मा, के. एल. संपा. 1999. *सोशल इनइक्वालिटी इन इंडिया: प्रोफिट्स ऑफ कास्ट, क्लास एंड सोशल मोबिलिटी.* द्वितीय संस्करण. रावत पब्लिकेशंस. जयपुर।

शर्मा, उर्सुला. 1999. *कास्ट.* ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस. बकिंघम एंड फिलाडेल्फिया।

बेते, आंद्रे. 1991. 'द रिप्रोडक्शन ऑफ इनइक्वालिटी: ऑक्यूपेशन, कास्ट एंड फैमिली', *कंट्रीब्यूशंस* टू *इंडियन सोसियोलॉजी.* से एन. एस., वॉल्यूम. 25, नं. 1, पृष्ठ संख्या 3-28।

श्रीनिवास, एम. एन. 1994. द *डोमिनेंट कास्ट एंड अदर एस्सेज.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. नयी दिल्ली।

डयूमो, लूई. 1981. *होमो हेरारकिकस:* द *कास्ट सिस्टम एंड इट्स इंप्लीकेशंस.* द्वितीय संस्करण. यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस. शिकागो।

घुरिये, जी. एस. 1969. *कास्ट एंड रेस इन इंडिया.* पाँचवाँ संस्करण, पॉपुलर प्रकाशन. मुंबई।

जॉन, मैरी ई. प्रवीन, कुमार झा. एवं सुरिन्दर, एस. जोधका. संपा. 2006. *कंटेस्टेड ट्रांसफॉरमेशंस: चेंजिंग इकोनॉमीज एंड आइडेंटिटीस इन कंटम्प्रेरी इंडिया.* तूलिका. नयी दिल्ली।

डिर्क, निकलस. 2001. *कास्ट्स ऑफ माइंड: कोलोनियलिज़्म एंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया.* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस. प्रिंसटन।

ओबेरॉय, पेट्रीशिया. संपा. 1994. *फैमिली, किनशिप एंड मैरिज इन इंडिया* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. दिल्ली।

वर्जीनियस, खाखा. 2003. 'ट्राइब्स इन इंडिया' वीना, दास. द्वारा संपा. द *ऑक्सफोर्ड इंडिया कंपेनियन टू सोसियोलॉजी एंड सोशल एंथ्रोपॉलोजी.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. दिल्ली।

टिप्पणियाँ

अध्याय 4

बाज़ार एक सामाजिक संस्था के रूप में

आमतौर पर हम बाज़ारों को क्रय-विक्रय के स्थान मान कर चलते हैं। दैनिक बोलचाल के प्रयोग में 'बाज़ार' शब्द का अर्थ विशेष बाज़ार हो सकता है जिन्हें हम शायद जानते हैं जैसे, रेलवे स्टेशन के पास का बाज़ार, फलों का बाज़ार या थोक बाज़ार। कभी-कभी हम स्थान की बात न कर लोगों, खरीददार और विक्रेता के जमावड़े की बात करते हैं जो मिलकर बाज़ार को बनाते हैं। अतः उदाहरण के तौर पर, एक साप्ताहिक सब्ज़ी बाज़ार नगरीय पड़ोस या पड़ोसी गाँव में हफ़्ते के हर दिन विभिन्न स्थानों पर पाया जा सकता है। एक अन्य अर्थ में, 'बाज़ार' एक क्षेत्र या व्यापार या कारोबार की श्रेणी के बारे में बात करता है जैसे, कारों का बाज़ार या फिर बने-बनाए कपड़ों का बाज़ार। इसी से जुड़ा हुआ एक अर्थ एक विशेष उत्पाद या सेवा की माँग का द्योतक है जैसे, कंप्यूटर विशेषज्ञों का बाज़ार।

इन सभी अर्थों में एक बात समान है और वो यह है कि यह सभी अर्थ एक विशेष बाज़ार की बात कर रहे हैं जिसे हम पूरी तरह तभी समझ सकते हैं जब हम उसके संदर्भ को ध्यान में रखें। पर अगर ऐसा है तो सिर्फ 'बाज़ार' का शाब्दिक प्रयोग, जो किसी विशेष जगह, लोगों के जमावड़े या बाज़ारी प्रक्रियाओं के क्षेत्र का चित्रण न करता हो, हमें क्या दर्शा सकता है? यह प्रयोग न केवल ऊपर दिए गए अर्थों को सम्मिलित करता है बल्कि तमाम तरह की आर्थिक क्रियाओं और संस्थाओं को भी इंगित करता है। अतः बृहत अर्थ में 'बाज़ार' अर्थव्यवस्था के लगभग समान है। हम बाज़ार को एक आर्थिक संस्था के रूप में देखने के आदी हैं पर यह अध्याय आपको बताएगा कि बाज़ार एक सामाजिक संस्था भी है। अपने स्वयं के तरीके में बाज़ार की तुलना जाति, जनजाति या परिवार जैसी स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष सामाजिक संस्थाओं, जिनका वर्णन अध्याय 3 में किया गया है, से की जा सकती है।

4.1 बाज़ार और अर्थव्यवस्था पर समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

अर्थशास्त्र की पाठन प्रक्रिया का उद्देश्य इस बात को समझने और व्याख्या करने से है कि आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में बाज़ार किस प्रकार से कार्य करता है जैसे, मूल्य किस तरह से तय होते हैं, किसी विशेष प्रकार के निवेश का संभावित असर या वह कौन से कारक हैं जो लोगों को खर्च करने या पैसे बचाने के लिए प्रभावित करते हैं तो समाजशास्त्र बाज़ारों के पठन-पाठन में क्या योगदान कर सकता है जो अर्थशास्त्र से अछूता रह गया है?

इसके जवाब के लिए हमें संक्षिप्त तौर पर अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड और आधुनिक अर्थशास्त्र के शुरुआती दिनों के बारे में जानना होगा जिसे उस दौर में 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था' कहा जाता था। आरंभिक दौर के राजनीतिक अर्थशास्त्रियों में एडम स्मिथ सबसे चर्चित थे जिन्होंने अपनी किताब द *वेल्थ ऑफ नेशन्स* में बाज़ार की अर्थव्यवस्था को समझने का प्रयास किया जो उस वक्त अपने शुरुआती दौर में थी। स्मिथ का तर्क था कि बाज़ारी अर्थव्यवस्था व्यक्तियों में आदान-प्रदान या सौदों का एक लंबा क्रम है, जो अपनी क्रमबद्धता की वजह से खुद-ब-खुद एक कार्यशील और स्थिर व्यवस्था की स्थापना करती है। यह तब भी होता है जब करोड़ों के लेन-देन में शामिल व्यक्तियों में से कोई भी व्यक्ति इसकी स्थापना का इरादा नहीं रखता। प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ को बढ़ाने की सोचता है और ऐसा करते हुए वो जो भी करता है वो स्वतः ही समाज के या सभी के हित में होता है। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होता है कि कोई एक अदृश्य बल यहाँ काम करता

है जो इन व्यक्तियों के लाभ की प्रवृत्ति को समाज के लाभ में बदल देता है। इस बल को स्मिथ ने 'अदृश्य हाथ' का नाम दिया। अत: उन्होंने तर्क दिया कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, स्वयं लाभ से स्वचालित है और यह तब सबसे अच्छे से कार्य करती है जब हर व्यक्ति खरीददार और विक्रेता तर्कसंगत निर्णय लेते हैं जो उनके हित में होते हैं। स्मिथ ने 'अदृश्य हाथ' के विचार को इस तर्क के रूप में प्रयोग किया कि जब बाज़ार में व्यक्ति स्वयं लाभ के अनुसार काम करता है तो समाज को हर तरह से फ़ायदा होता है, क्योंकि यह अर्थव्यवस्था को बढ़ाता है और अधिक समृद्धि उत्पन्न करता है। यही कारण है कि स्मिथ ने 'खुले व्यापार' का समर्थन किया, एक ऐसा बाज़ार जो किसी भी प्रकार की राष्ट्रीय या अन्य रोकथाम से मुक्त हो। इस आर्थिक दार्शनिकता को फ्रांसीसी भाषा में 'लेस-ए-फेयर' भी कहा गया, जिसका अर्थ है, बाज़ार को 'अकेला छोड़ दिया जाए' या 'हस्तक्षेप न किया जाए'।

एडम स्मिथ
(1723-90)

एडम स्मिथ समकालीन आर्थिक विचारों के उद्गमकर्ता के रूप में जाने जाते हैं। स्मिथ अपनी पाँच पुस्तकों की शृंखला 'दे वेल्थ ऑफ नेशन्स' से प्रसिद्ध हैं, जिसमें इस बात की व्याख्या की गई है कि कैसे खुली-बाज़ार अर्थव्यवस्था में तार्किक स्वयं-लाभ आर्थिक समृद्धि को बढ़ावा देता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र का विकास एड्म स्मिथ जैसे प्रारंभिक विचारकों के विचारों से हुआ और यह इस विचार पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था को समाज के एक पृथक् हिस्से के रूप में भी पढ़ा जा सकता है जो बड़े सामाजिक एवं राजनीतिक संदर्भ से अलग है, जिसमें बाज़ार अपने स्वयं के नियमों के अनुसार कार्य करता है। इस उपागम के विपरीत, समाजशास्त्रियों ने बड़े सामाजिक ढाँचे के अंदर आर्थिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं को समझने के लिए एक वैकल्पिक तरीके का विकास करने का प्रयास किया है।

समाजशास्त्री मानते हैं कि बाज़ार सामाजिक संस्थाएँ हैं जो विशेष सांस्कृतिक तरीकों द्वारा निर्मित है। उदाहरण के लिए, बाज़ारों का नियंत्रण या संगठन अक्सर विशेष सामाजिक समूह या वर्गों द्वारा होता है और इसकी अन्य संस्थाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं और संरचनाओं से भी विशेष संबद्धता होती है। समाजशास्त्री इस विचार को अक्सर यह कहकर प्रकट करते हैं कि अर्थव्यवस्थाएँ समाज में 'रची-बसी' हैं। इस मत को यहाँ दो उदाहरणों सहित प्रस्तुत किया गया है, एक उदाहरण है, एक साप्ताहिक आदिवासी हाट का और दूसरा है एक 'पारंपरिक व्यापारिक समुदाय' और भारत के उपनिवेशिक दौर में उसका लेन-देन का नेटवर्क या तंत्र।

छत्तीसगढ़ के जिला बस्तर में धोराई गाँव का एक साप्ताहिक 'आदिवासी बाज़ार'

दुनिया भर के अधिकांश कृषक या 'खेतिहर' समाजों में आवधिक बाज़ार या हाट, सामाजिक और आर्थिक संगठन व्यवस्था की एक केंद्रीय विशेषता होती है। साप्ताहिक बाज़ार आस-पास के गाँवों के लोगों को एकत्रित करता है जो अपनी खेती की उपज या किसी और उत्पाद को बेचने आते हैं और वे बनी-बनाई वस्तुएँ एवं अन्य सामान खरीदने आते हैं जो उनके गाँवों में नहीं मिलते। इन बाज़ारों में स्थानीय क्षेत्र से बाहर के लोगों के साथ-साथ साहुकार, मसखरे, ज्योतिषी एवं तमाम तरह के विशेषज्ञ अपनी सेवाएँ एवं वस्तुओं के साथ आते हैं। ग्रामीण भारत में एक कम तय अंतराल पर विशेष बाज़ार भी लगते हैं, जिसका एक आवधिक उदाहरण है पशुबाज़ार। यह आवधिक बाज़ार विभिन्न स्थानीय और क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं को

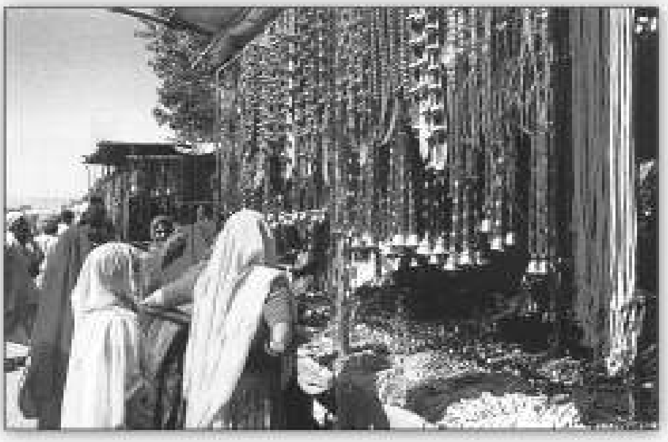

जोड़ता है एवं उन्हें बृहद राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं और कस्बों एवं महानगरीय केंद्रों से जोड़ता है।

साप्ताहिक हाट, ग्रामीण एवं नगरीय भारत में भी एक आम नज़ारा होता है। पहाड़ी और जंगलाती इलाकों में (खास तौर पर, जहाँ आदिवासी बसे होते हैं) जहाँ अधिवास दूर-दराज़ तक होता है, सड़कें और संचार भी जीर्ण-शीर्ण होता है एवं अर्थव्यवस्था भी अपेक्षाकृत अविकसित होती है ऐसे में साप्ताहिक बाज़ार उत्पादों के आदान-प्रदान के साथ-साथ सामाजिक मेल-मिलाप की एक प्रमुख संस्था बन जाता है। स्थानीय लोग बाज़ार में अपनी खेती की उपज या जंगल से लाए गए पदार्थों को व्यापारियों को बेचते हैं जो कस्बों में इन्हें ले जाकर दुबारा बेचते हैं और इन पैसों से आवश्यक वस्तुएँ जैसे नमक एवं खेती के औज़ार और उपभोग की वस्तुएँ जैसे, चूड़ियाँ और गहने खरीदते हैं। पर अधिकांश लोगों के लिए हाट जाने का प्रमुख कारण सामाजिक है जहाँ वह अपने रिश्तेदारों से भेंट कर सकता है, घर के जवान लड़के-लड़कियों का विवाह तय कर सकता है, गप्पे मार सकता है और कई अन्य कार्य कर सकता है।

जहाँ जनजातीय क्षेत्रों में साप्ताहिक बाज़ार एक बहुत पुरानी संस्था है वहीं समय के साथ इनके स्वरूप में परिवर्तन भी हुआ है। इन दूरस्थ क्षेत्रों के उपनिवेशिक राज्यों के नियंत्रण में आने के बाद इन्हें धीरे-धीरे क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं से जोड़ दिया गया। जनजातीय क्षेत्रों को सड़कों के निर्माण द्वारा और स्थानीय लोगों को 'समझा-बुझा' के (जिनमें से बहुत से लोगों ने 'जनजातीय विद्रोहों' द्वारा औपनिवेशिक शासन का विरोध किया था) 'खोला गया' ताकि इन इलाकों के समृद्ध जंगलों और खनिजों तक बेरोक-टोक पहुँचा जा सके। ऐसा होने से इन क्षेत्रों में व्यापारी, साहुकार और आस-पास के मैदानी इलाकों से अन्य गैर जनजातीय लोगों का यहाँ भी ताँता लग गया। इस प्रकार जनजातीय अर्थव्यवस्था में बदलाव आ गया क्योंकि अब जंगल के उत्पादों को बाहरी लोगों को बेचा जाने लगा और नयी तरह की वस्तुएँ व्यवस्था में शामिल हो गई। आदिवासियों को अब उन खदानों और बागानों में भी मजदूर के तौर पर रखा जाने लगा जो अंग्रेज़ी सरकार के दौर में स्थापित हुए थे। औपनिवेशिक दौर के दौरान जनजातीय श्रम के एक 'बाज़ार' का विकास हुआ। इन तमाम बदलावों की वजह से स्थानीय जनजातीय अर्थव्यवस्थाएँ बड़े बाज़ारों से जुड़ गई पर इसका असर स्थानीय लोगों के लिए सामान्यत: बेहद नकारात्मक था। उदाहरण के लिए, बाहर से स्थानीय क्षेत्रों में साहूकारों और व्यापारियों के आवागमन ने आदिवासियों को दरिद्र कर दिया, उनमें से अधिकांश ने अपनी जमीन बाहरी लोगों के हाथ खो दी।

साप्ताहिक बाज़ार एक सामाजिक संस्था के रूप में, जनजातीय स्थानीय अर्थव्यवस्था और बाहरी वातावरण के बीच की कड़ियों और आदिवासियों एवं अन्य लोगों के बीच के आर्थिक शोषण का संबंध, इन सबका चित्रण बस्तर जिले के एक साप्ताहिक बाज़ार के अध्ययन में किया गया है। इस ज़िले में गोंड आदिवासी रहते हैं। साप्ताहिक बाज़ार में आप स्थानीय लोग, जिसमें जनजातीय और गैर-जनजातीय (मुख्यत: हिंदू) के साथ-साथ बाहरी लोग जिसमें मुख्यत: विभिन्न जातियों के हिंदू व्यापारी होते हैं को पाएँगे। वन अधिकारी भी बाज़ार में इन आदिवासियों के साथ व्यापार करने आते हैं जो वन-विभाग के लिए काम करते हैं। इस प्रकार, इस बाज़ार में तमाम तरह के विशेष विक्रेता अपने उत्पाद और सेवाएँ बेचने आते हैं। मुख्य

चीजें जिनका बाज़ार में विनिमय होता है वे बनी-बनाई वस्तुएँ (जैसे, गहने और पायलें, बर्तन और चाकू), गैर-स्थानीय खाद्य पदार्थ (जैसे, नमक और हल्दी), स्थानीय खाद्य सामग्री, खेतिहर उत्पाद और बनी बनाई वस्तुएँ (जैसे, बाँस की टोकरी), और जंगल के उत्पाद (जैसे, इमली एवं तिलहन) हैं। जंगल के उत्पाद जो आदिवासी लेकर आते हैं, वह व्यापारी खरीदकर कस्बों में ले जाते हैं। इन हाटों में खरीददार मुख्यत: आदिवासी ही होते हैं, पर विक्रेता मुख्यत: जाति-प्रधान हिंदू होते हैं। आदिवासी, जंगली और खेती संबंधी उत्पादों और अपने श्रम-बल को बेचकर जो पैसा कमाते हैं वो मुख्यत: इन हाटों में मिलने वाली सस्ती पायलों एवं गहनों और उपभोग की वस्तुएँ जैसे, बने-बनाए कपड़ों की खरीददारी के लिए खर्च करते हैं।

एल्फ्रेड गेल (1982), जैसे मानवविज्ञानी जिन्होंने धोराई का अध्ययन किया, के अनुसार बाज़ार का महत्त्व सिर्फ़ इसकी आर्थिक क्रियाओं तक सीमित नहीं है। उदाहरण के लिए, बाज़ार की रूपरेखा उस क्षेत्र के अधिक्रमित अंतर-समूहों के सामाजिक संबंधों का प्रतीकात्मक चित्रण करती है। विभिन्न सामाजिक समूह, जाति एवं सामाजिक अधिक्रम में एवं साथ ही बाज़ार व्यवस्था में अपनी स्थिति के अनुसार स्थापित होते हैं। अमीर और उच्च श्रेणी वाले राजपूत आभूषण निर्माता और मध्यम श्रेणी के स्थानीय हिंदू व्यापारी बाज़ार के बीच वाले 'क्षेत्रों' में बैठते हैं और आदिवासी जो तरकारी और स्थानीय

बॉक्स 4.1

बस्तर में एक आदिवासी गाँव का बाज़ार

धोराई एक आदिवासी बाज़ार वाले गाँव का नाम है जो कि छत्तीसगढ़ के उत्तरी बस्तर जिले के भीतरी इलाके में बसा है... जब बाज़ार नहीं लगता, उन दिनों धोराई एक उँघता हुआ, पेड़ों के छप्परों से छना हुआ, घरों का झुरमुट है जो पैर पसारे उन सड़कों से जा मिलता है जो बिना किसी नाप-माप के जंगल भर में फैली हुई है... धोराई का सामाजिक जीवन, यहाँ की दो प्राचीन चाय की दुकानों तक सीमित है, जिसके ग्राहक राज्य वन सेवा के निम्न श्रेणी के कर्मचारी हैं जो दुर्भाग्यवश इस दूरवर्ती और निरर्थक इलाके में कर्मवश फँसे पड़े हैं... धोराई का अस्तित्व गैर-बाज़ारी दिनों में या शुक्रवार को छोड़कर शून्य के बराबर होता है, पर बाज़ार वाले दिन वो किसी और जगह में तब्दील हो जाता है। ट्रकों से रास्ता जाम हुआ होता है... वन के सरकारी कर्मचारी अपनी इस्तरी की हुई पोशाकों में इधर से उधर चहलकदमी कर रहे होते हैं और वन सेवा के महत्त्वपूर्ण अधिकारी अपनी ड्यूटी बजाकर वन विभाग के विश्राम गृहों के आँगनों से बाज़ार पर बराबर नजर बनाए रखते हैं। वे आदिवासी श्रमिकों को उनके काम का भत्ता बाँटते हैं...

जब अफ़सरात आराम घर में सभा लगाते हैं तो आदिवासियों की कतार चारों ओर से खिंचती चली जाती है, वो जंगल के समान, अपने खेतों की उपज या फिर अपने हाथ से बनाया हुआ कुछ लेकर आते हैं। इनमें तरकारी बेचने वाले हिंदू एवं विशेषज्ञ शिल्पकार, कुम्हार, जुलाहे एवं लोहार सम्मिलित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समृद्धि के साथ अस्त-व्यस्तता है, बाज़ार के साथ-साथ कोई धार्मिक उत्सव भी चल रहा है... लगता है जैसे सारा संसार, इंसान, भगवान सब एक ही जगह बाज़ार में एकत्रित हो गए हैं। बाज़ार लगभग एक चतुर्भुजीय जमीनी हिस्सा है, लगभग 100 एकड़ के वर्गमूल में बसा हुआ है जिसके बीचोंबीच एक भव्य बरगद का पेड़ है। बाज़ार की छोटी-छोटी दुकानों की छत छप्पर की बनी है और यह दुकानें काफ़ी पास-पास हैं, बीच-बीच में गलियारे से बन गए हैं, जिनमें से खरीदार सँभलते हुए किसी तरह कम स्थापित दुकानदारों के कमदामी सामानों को पैर से कुचलने से बचाने की कोशिश करते हैं, जिन्होंने स्थाई दुकानों के बीच की जगह का अपनी वस्तुएँ प्रदर्शित करने के लिए हर संभव उपयोग किया है।

स्रोत: गेल 1982:470-71

बॉक्स 4.1 के लिए अभ्यास

बॉक्स में दिए गए उद्धरण को पढ़िए एवं नीचे दिए गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए:

1. यह लेखांश आप को आदिवासियों और राज्य (जिसका प्रतिनिधित्व वन विभाग के अधिकारियों द्वारा होता है) के बीच के संबंध के बारे में क्या बताता है? वन विभाग के अर्दली, आदिवासी जिलों में इतने महत्त्वपूर्ण क्यों हैं? अधिकारी आदिवासी श्रमिकों को भत्ता क्यों दे रहे हैं?
2. बाज़ार की रूपरेखा उसके संगठन और कार्य-व्यवस्था के बारे में क्या प्रकट करती है? किस प्रकार के लोगों की स्थाई दुकानें होंगी और 'कम स्थापित' दुकानदार कौन हैं, जो ज़मीन पर बैठते हैं?
3. बाज़ार के मुख्य विक्रेता और खरीदार कौन हैं? बाज़ार में किस प्रकार की वस्तुएँ होती हैं और इन विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को कौन लोग खरीदते व बेचते हैं? इससे आपको इस क्षेत्र की स्थानीय अर्थव्यवस्था और आदिवासियों के बड़े समाज और अर्थव्यवस्था से संबंध के बारे में क्या पता चलता है?

सामान बेचते हैं वो बाज़ार के बाहरी हिस्सों में बैठते हैं। खरीदी और बेची जाने वाली वस्तुओं के प्रकार से एवं किस तरह से मोल भाव किया जाता है इससे सामाजिक संबंधों का पता चलता है। उदाहरण के लिए, जनजातीय और गैर-जनजातीय लोगों के बीच की अंत:क्रिया, एक समुदाय के हिंदुओं के बीच की अंत:क्रिया से बिल्कुल भिन्न होती है। यह अंत:क्रिया अधिक्रम और सामाजिक दूरी को दर्शाती है, न कि सामाजिक समानता को।

पूर्व उपनिवेशिक और उपनिवेशिक भारत में जाति आधारित बाज़ार एवं व्यापारिक तंत्र

भारतीय आर्थिक इतिहास के कुछ पारंपरिक विवरण भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज को एक अपरिवर्तनशील रूप में देखते हैं। यह माना जाता रहा है कि आर्थिक रूपांतरण उपनिवेशिवाद के साथ ही शुरू हुआ। ऐसा माना जाता था कि भारत प्राचीन ग्रामीण समुदायों का देश है जो अपेक्षाकृत स्व-निर्भर थे और उनकी अर्थव्यवस्थाएँ प्राथमिक तौर पर गैर-बाज़ारी विनिमय के आधार पर संगठित थीं। उपनिवेशिकता के दौरान और भारत की आज़ादी के प्रारंभिक दौर में ऐसा माना गया कि व्यावसायिक रुपये-पैसे की अर्थव्यवस्था के स्थानीय कृषक अर्थव्यवस्था में आने और विनिमय के बृहत क्षेत्रों में उनके शामिल होने से ग्रामीण एवं नगरीय समाजों में जबरदस्त सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन हुए। यहाँ ये कहना सही है कि उपनिवेशिकता ने बड़े आर्थिक रूपांतरण किए जैसे, अंग्रेजी सरकार की ये माँग कि भूमि के लगान को नकद चुकता करना है, वहीं हाल ही में हुए ऐतिहासिक शोध यह दिखाते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था का मौद्रीकरण (व्यापार में रुपए-पैसे का प्रयोग होना) उपनिवेशिकता के ठीक पहले से ही विद्यमान था। जहाँ बहुत से गाँवों और इलाकों में विभिन्न प्रकार की गैर-बाज़ारी विनिमय व्यवस्था (जैसे, 'जजमानी व्यवस्था') तो मौजूद थी पर उपनिवेशिकता से पहले भी गाँव विनिमय के बड़े तंत्र का हिस्सा थे जिससे कृषि उत्पाद और तरह-तरह की अन्य वस्तुओं का व्यापारिक प्रचलन होता था (बेयली 1983, स्टाइन एवं सुब्रमण्यम 1996)। अब ऐसा लगता है कि 'पारंपरिक' और 'आधुनिक' (या पूँजीवाद से पहले और पूँजीवाद का दौर) अर्थव्यवस्था के बीच अक्सर जो विभाजन किया जाता है वो इस सफ़ाई से बँटा हुआ

नहीं है, बल्कि एक–दूसरे से घुला मिला है। हाल ही के ऐतिहासिक शोधों ने ये भी उजागर किया है कि उपनिवेश के पहले भी भारत में विस्तृत और परिष्कृत व्यापारिक तंत्र विद्यमान थे। यह तो हम सब जानते हैं कि पिछली कितनी ही शताब्दियों से भारत हथकरघा के कपड़ों का मुख्य निर्माता और (सूती कपड़े और महँगे रेशम दोनों) निर्यातक होने के साथ–साथ अनेक अन्य वस्तुओं (जैसे, मसालों) जिनकी वैश्विक बाज़ार में, मुख्यत: यूरोप में भारी माँग थी, का स्रोत था। तो यह कतई आश्चर्य की बात नहीं है कि उपनिवेश के पहले के दिनों में भारत में उन्नत अवस्था के उत्पादन केंद्रों के साथ–साथ देशज व्यापारियों का संगठित समाज, व्यापारिक तंत्र और बैंकिंग व्यवस्था भी शामिल थी जिससे भारत, आंतरिक स्तर पर और बाकी दुनिया से भी व्यापार करने में सक्षम था। इन पारंपरिक व्यापारिक समुदायों या जातियों की अपनी कर्ज़ और बैंक की व्यवस्थाएँ थीं। उदाहरण के लिए, विनिमय और कर्ज़ का एक महत्त्वपूर्ण साधन–हुंडी या विनिमय का बिल (जो कि एक कर्ज़ पत्र की तरह था) थी इसे व्यापारी लंबी दूरी के व्यापार में इस्तेमाल करते थे। चूँकि व्यापार प्राथमिकता में इन समुदायों की जाति एवं नातेदारी क्षेत्रों में ही होता था इसलिए देश में किसी एक कोने से एक व्यापारी द्वारा जारी हुई हुंडी दूसरे कोने में व्यापारी द्वारा स्वीकार की जाती थी।

तमिलनाडु के नाटूकोटाइ चेट्टीयारों (या नाकरट्टर) इसका एक जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि यह देशज व्यापारिक तंत्र किस तरह संगठित थे और कैसे कार्य करते थे। उपनिवेश के दौरान इस समुदाय पर किया गया अध्ययन दर्शाता है कि किस तरह से इनकी बैंकिंग और व्यापारिक गतिविधियाँ समुदाय के सामाजिक संगठनों से जुड़ी हुई थीं। जाति, नातेदारी और परिवार की संरचना सब व्यापार के अनुकूल थी और व्यापार इन्हीं सामाजिक संरचनाओं के भीतर होता था। जैसाकि अधिकांश 'पारंपरिक' व्यापारिक समुदायों में होता है, नाकरट्टारों के बैंक भी उनके संयुक्त पारिवारिक संस्थान थे ताकि व्यापारिक संस्थान की सरंचना भी परिवार के समान रहे। इसी प्रकार व्यापारिक और बैंकिंग गतिविधियाँ भी जाति और नातेदारी संबंधों के माध्यम से संगठित थीं। उदाहरण के तौर पर, चेट्टियार व्यापारियों के जाति आधारित सामाजिक तंत्रों या संपर्कों ने उन्हें दक्षिण पूर्व एशिया और सीलोन में अपनी गतिविधियाँ बढ़ाने में सहायता दी। एक दृष्टिकोण से नाकरट्टारों की देशज आर्थिक गतिविधियों को एक प्रकार का पूँजीवाद कह सकते हैं। यह व्याख्या हमें यह प्रश्न पूछने पर बाध्य कर देती है कि क्या 'पूँजीवाद' का कोई अन्य स्वरूप है, या था जो यूरोप के पूँजीवाद से भिन्न है (रुडनर 1994)।

बॉक्स 4.2

तमिलनाडु के नाकरट्टारों में जाति आधारित व्यापार

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नाकारट्टारों की बैंकिंग व्यवस्था अर्थशात्रियों के पश्चिमी स्वरूप के बैंकिंग व्यवस्था के प्रारूप से मिलती है... नाकरट्टारों में एक–दूसरे से कर्ज़ लेना या पैसा जमा करना जाति आधारित सामाजिक संबंधों से जुड़ा होता था जो कि व्यापार के भूभाग, आवासीय स्थान, वंशानुक्रम, विवाह और सामान्य संप्रदाय की सदस्यता पर आधारित था। आधुनिक पश्चिमी बैंकिंग व्यवस्था के विपरीत, नाकरट्टारों में नेकनामी (प्रतिष्ठा), निर्णय, क्षमता और जमा पूँजी जैसे सिद्धांतों के अनुसार विनिमय होता था, न कि सरकार नियंत्रित केंद्रीय बैंक के नियमों के अंतर्गत, और यही प्रतीक संपूर्ण जाति के प्रतिनिधि की तरह प्रत्येक एकल नाकरट्टर व्यक्ति के इस व्यवस्था में विश्वास को सुनिश्चित करते थे। दूसरे शब्दों में, नाकरट्टारों की बैंकिंग व्यवस्था एक जाति आधारित बैंकिंग व्यवस्था थी। हर एक नाकरट्टार ने अपना जीवन विभिन्न प्रकार की सामूहिक संस्थाओं में शामिल होने और उसका प्रबंध करने के अनुसार संगठित किया था। यह वह संस्थाएँ थी जो उनके समुदाय में पूँजी जमा करने और बाँटने में जुटी हुई थी।

स्रोत: रुडनर 1994:234

बॉक्स 4.2 के लिए अभ्यास

बॉक्स में दिए गए कास्ट एंड केपिटेलिज्म इन कॉलोनियल इंडिया (रुडनर 1994) से लिए गए लेखांश को पढ़ें और निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें-

1. लेखक के अनुसार, नाकरट्टाओं की बैंकिंग व्यवस्था और आधुनिक पश्चिमी बैंकिंग व्यवस्था में क्या महत्त्वपूर्ण अंतर हैं?
2. नाकरट्टाओं की बैंकिंग और व्यापारिक गतिविधियाँ अन्य सामाजिक संरचनाओं से किन विभिन्न तरीकों से जुड़ी हुई है?
3. क्या आप आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत ऐसे उदाहरण सोच सकते हैं जहाँ आर्थिक गतिविधियाँ नाकरट्टाओं की ही तरह सामाजिक संरचना में घुली-मिली हों?

बाज़ारों का सामाजिक संगठन : 'पारंपरिक व्यापारिक समुदाय'

भारतीय अर्थव्यवस्था के अनेक समाजशास्त्रीय अध्ययन 'पारंपरिक व्यापारिक समुदायों' या जातियों जैसे नाकरट्टारों पर केंद्रित हैं। जैसाकि आप अच्छी तरह से जान गए हैं कि भूमि पर अधिकार, व्यावसायिक भिन्नताएँ एवं और अन्य विषयों के संदर्भ में जाति व्यवस्था और अर्थव्यवस्था में गहरा नाता है। यह बात बाज़ारों और व्यापार पर भी उतनी ही लागू होती है। वास्तव में, 'वैश्य' चार वर्णों में से एक हैं, यह तथ्य भारतीय समाज में प्राचीनकाल से व्यापार और व्यापारी के महत्त्व को दर्शाता है। हालाँकि अन्य वर्णों की तरह 'वैश्य' प्रस्थिति अक्सर स्थिर पहचान या सामाजिक स्थिति की तुलना में अधिकार या आकांक्षा से प्राप्त की हुई होती है। हालाँकि, कुछ ऐसे 'वैश्य' समुदाय भी हैं (जैसे, उत्तरी भारत के बनिया) जिनका पारंपरिक व्यवसाय एक लंबे समय से व्यापार या वाणिज्य रहा है। कुछ जाति समूह भी हैं जो व्यापार में शामिल हो गए हैं। ऐसे समूह ऊपर बढ़ने की प्रक्रिया में 'वैश्य' की प्रस्थिति पाने की आकांक्षा रखते हैं या इस पर अधिकार जताते हैं। सभी जाति समुदायों के इतिहास की तरह, अधिकांश दशाओं में जाति प्रस्थिति या पहचान और जाति व्यवहारों जिसमें व्यवसाय भी शामिल हैं के बीच एक जटिल संबंध होता है। भारत में 'पारंपरिक व्यापारिक समुदायों' में सिर्फ़ 'वैश्य' ही नहीं बल्कि और समूह भी अपनी भिन्न धार्मिक या अन्य सामुदायिक पहचानों के साथ शामिल हैं जैसे; पारसी, सिंधी, बोहरा या जैन। व्यापारिक समुदायों की समाज में हमेशा उच्च प्रस्थिति नहीं रही है। मसलन, उपनिवेश काल में नमक का दूर-दराज़ तक व्यापार एक उपेक्षित जनजातीय समूह, बंजारों द्वारा होता था। हर स्थिति में सामुदायिक संस्थाओं का विशेष स्वरूप और उनका आचरण विभिन्न संस्थाओं और व्यापारिक प्रथाओं को जन्म देता

है।

भारत में अतीत व समकालीन परिवेश में बाज़ारों के परिचालन को समझने के लिए हम इस बात की जाँच कर सकते हैं कि किस तरह व्यापार के कुछ विशेष-क्षेत्र विशेष समुदायों द्वारा नियंत्रित होते हैं। इस जाति आधारित विशेषता का एक कारण यह भी हो सकता है कि व्यापार और खरीद-फ़रोख़्त आमतौर पर जाति एवं नातेदारी तंत्रों में ही होता है जैसाकि हमने नाकरट्टारों के मामले में देखा। क्योंकि व्यापारी अपने स्वयं के समुदायों के लोगों पर विश्वास औरों की अपेक्षा ज़्यादा करते हैं इसलिए वे बाहर के लोगों की बजाय इन्हीं संपर्कों में व्यापार करते हैं और इससे व्यापार के कुछ क्षेत्रों पर एक जाति का एकाधिकार हो जाता है।

क्रियाकलाप 4.1

जिस कस्बे या शहर में आप रहते हैं उसके बाज़ार या खरीददारी करने वाले क्षेत्रों में जाएँ। यह पता करने की कोशिश करें कि महत्त्वपूर्ण व्यापारी कौन हैं। क्या कोई विशेष व्यापार के क्षेत्र हैं जो विशेष समुदायों द्वारा नियंत्रित हैं जैसे, आभूषण, किराना, लोहे, लकड़ी एवं अन्य वस्तुओं की दुकानें? इन दुकानों में से कुछ में जाएँ एवं उनके मालिकों और उनके समुदायों के बारे में पता करें। क्या यह उनका पुश्तैनी पारिवारिक व्यापार है?

उपनिवेशवाद और नए बाज़ारों का आविर्भाव

उपनिवेशवाद के आते ही भारतीय अर्थव्यवस्था में गहरे बदलाव आए जिससे उत्पादन, व्यापार और कृषि में एक अभूतपूर्व विघटन हुआ। एक जाना माना उदाहरण है, हथकरघा के काम का खात्मा हो जाना। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि उस वक्त के बाज़ारों में इंग्लैंड से सस्ते बने-बनाए कपड़ों की भरमार लगा दी गई थी। हालाँकि भारत में उपनिवेश के दौर से पहले ही एक जटिल मौद्रीकृत अर्थव्यवस्था विद्यमान थी, ज्यादातर इतिहासकार उपनिवेश काल को एक संधिकाल के रूप में देखते हैं। उपनिवेश काल के दौरान, भारत विश्व की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से और अधिक जुड़ गया। अंग्रेजी राज से पहले भारत बने-बनाए सामानों के निर्यात का एक मुख्य केंद्र था। उपनिवेशवाद के बाद भारत कच्चे माल और कृषक उत्पादों का स्रोत और उत्पादित सामानों का उपभोक्ता बना दिया गया, यह दोनों कार्य इंग्लैंड के उद्योगों को लाभ पहुँचाने के लिए किए गए। लगभग उसी समय नए समूह (मुख्यत: यूरोपियन) व्यापार और व्यवसाय में आने लगे, वो या तो पहले से जमे हुए व्यापारिक समुदायों से मेल-जोल कर अपना व्यापार शुरू करते थे या कभी उन समुदायों को उनका व्यापार छोड़ने को मजबूर करके। परंतु पहले से विद्यमान आर्थिक संस्थाओं को पूरी तरह से नष्ट करने के बजाय भारत में बाज़ार अर्थव्यवस्था के विस्तार में कुछ व्यापारिक समुदायों को नए अवसर प्रदान किए, जिन्होंने बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार अपने आप को पुनर्गठित किया और अपनी स्थिति को सुधारा। कुछ मामलों में, उपनिवेशवाद द्वारा प्रदान किए गए आर्थिक सुअवसरों का लाभ उठाने के लिए नए समुदायों का जन्म हुआ जिन्होंने स्वतंत्रता के बाद भी अपनी आर्थिक शक्ति को निरंतरता से बनाए रखा।

इस प्रक्रिया का एक अच्छा उदाहरण है; मारवाड़ी, जो शायद भारत में हर जगह पाए जाने वाले एवं सबसे ज्यादा जाना-माना व्यापारिक समुदाय है। मारवाड़ियों का प्रतिनिधित्व बिड़ला परिवार जैसे नामी औद्योगिक घरानों से तो है ही, छोटे-छोटे दुकानदारों और व्यापारियों से भी हैं, जो भारत के हर कस्बे के बाज़ारों में बसे हुए हैं। उपनिवेश काल के दौरान ही मारवाड़ी एक सफल व्यापारिक समुदाय बने, जब उन्होंने उपनिवेशिक शहरों जैसे कलकत्ता में मिलने वाले नए सुअवसरों का लाभ उठाया और व्यापार और साहूकारी जारी रखने के लिए देश के सभी भागों में बस गए। नाकरट्टारों की तरह मारवाड़ियों की सफलता भी उनके गहन सामाजिक तंत्रों की वजह से है जिसने उनकी बैंकिंग व्यवस्था के संचालन के लिए आवश्यक विश्वास से भरपूर संबंधों की स्थापना की। अनेक मारवाड़ी परिवार इतनी पूँजी जुटा पाए कि

वो लोगों को ब्याज पर कर्ज़ देने लगे, इन बैंकों जैसी आर्थिक प्रवृत्ति की मदद से भारत में अंग्रेज़ों के वाणिज्यिक विस्तार को भी मदद मिली (हार्डग्रोव, 2004)। उपनिवेश के आखिरी दिनों में और स्वतंत्रता के बाद कुछ मारवाड़ी परिवारों ने अपने आपको आधुनिक उद्योगों में रूपांतरित कर लिया और आज भी भारत में किसी अन्य समुदाय की तुलना में मारवाड़ियों की उद्योग में सबसे बड़ी हिस्सेदारी है। उपनिवेश के दौरान एक नए व्यापारिक समुदाय का उभरकर आना और इसका छोटे प्रवासी व्यापारी से बड़े साहूकार और उद्योगपतियों में बदल जाने की यह कहानी आर्थिक प्रक्रियाओं में सामाजिक संदर्भ के महत्त्व को दर्शाती है।

4.2 पूँजीवाद को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में समझना

आधुनिक समाजशास्त्र के संस्थापकों में से एक कार्ल मार्क्स आधुनिक पूँजीवाद के आलोचक भी थे। मार्क्स ने पूँजीवाद को **पण्य** (commodity) उत्पादन या बाज़ार के लिए उत्पादन करने की व्यवस्था के रूप में समझा, जो कि श्रमिक की मजदूरी पर आधारित है। जैसाकि आप पहले ही पढ़ चुके हैं मार्क्स ने लिखा है कि सभी आर्थिक व्यवस्थाएँ सामाजिक व्यवस्थाएँ भी हैं। हर **उत्पादन विधि** विशेष उत्पादन संबंधों से बनती है और अंततः वह एक विशिष्ट वर्ग संरचना का निर्माण करती है। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि अर्थव्यवस्था चीजों से नहीं बल्कि लोगों के बीच रिश्तों से बनती है जो उत्पादन की प्रक्रिया के द्वारा एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। पूँजीवादी उत्पादन विधि के अंतर्गत, मजदूरी या श्रम भी एक बिकाऊ सामान बन जाता है क्योंकि मजदूरों को अपनी **श्रम शक्ति** को बाज़ार में बेचकर ही अपनी मज़दूरी कमानी है। इस तरह दो आधारभूत वर्गों का गठन होता है; पूँजीपति जो उत्पादन के साधनों (जैसे कारखानों) के मालिक हैं और श्रमिक, जो अपना श्रम पूँजीपतियों को बेचते हैं। पूँजीपति वर्ग को इस व्यवस्था से मुनाफ़ा होता है क्योंकि वो श्रमिकों को उनके काम के बराबर दाम नहीं देते ऐसा करते हुए वो उनके श्रम से **अतिरिक्त मूल्य** निकाल लेते हैं। मार्क्स के पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और समाज के सिद्धांत ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में पूँजीवाद के स्वरूप के बारे में अनेक सिद्धांतों और बहसों को प्रेरित किया।

वस्तुकरण या पण्यीकरण और उपभोग

दुनिया के हर एक कोने में पूँजीवाद के विकास से जीवन के हर क्षेत्र और हिस्सों में बाज़ारों का विस्तार हो गया जो कि पहले इस व्यवस्था से अछूते थे। **पण्यीकरण** (commoditisation) तब होता है जब कोई वस्तु बाज़ार में बेची-खरीदी न जा सकती हो और अब वह बेची-खरीदी जा सकती है अर्थात् अब वह बाज़ार मे बिकने वाली एक चीज़ बन गई है। जैसे, श्रम और कौशल अब ऐसी चीजें हैं जो खरीदी व बेची जा सकती हैं। मार्क्स और पूँजीवाद के अन्य आलोचकों के अनुसार, पण्यीकरण की प्रक्रिया के नकारात्मक सामाजिक प्रभाव हैं। श्रम का पण्यीकरण एक उदाहरण है लेकिन समकालीन समाज में ऐसे

और भी उदाहरण हैं। मसलन, आजकल एक विवादास्पद वाक्‌या है गरीब लोगों द्वारा अपनी किडनी को अमीर लोगों को बेचना जिन्हें किडनी के प्रतिस्थापन की आवश्यकता है। बहुत से लोगों का मानना है कि मानव अंगों का पण्यीकरण नहीं होना चाहिए। पहले के समय में इंसानों को गुलाम के तौर पर बेचा और खरीदा जाता था, पर आज के दौर में लोगों को वस्तुओं की तरह समझना अनैतिक माना जाता है। पर आधुनिक समाज में लगभग हर कोई मानता है कि इंसान का श्रम खरीदा जा सकता है या पैसों के बदले में अन्य सेवाओं या कौशल उपलब्ध कराया जा सकता है। मार्क्स के अनुसार, यह वह स्थिति है जो सिर्फ़ पूँजीवादी समाजों में ही पाई जाती है।

समकालीन भारत में हम देख सकते हैं कि कुछ चीज़ें या प्रक्रियाएँ जो पहले बाज़ार का हिस्सा नहीं थीं अब वह बाज़ार में मिलने वाली वस्तुएँ हो गई हैं। जैसे, पारंपरिक रूप से पहले विवाह परिवार के लोगों द्वारा तय किए जाते थे पर अब व्यावसायिक विवाह ब्यूरो की भरमार है जो वेबसाइट्स या किसी और माध्यम से लोगों का विवाह तय कराते हैं और इसका मेहनताना लेते हैं। दूसरा उदाहरण है, अनेक निजी संस्थान जो 'व्यक्तित्व सँवारने', अंग्रेज़ी बोलना-सिखाने और अन्य चीजों के लिए पाठ्यक्रमों को चलाते हैं जो कि विद्यार्थियों को (अधिकांश मध्यमवर्गीय नौजवानों) समकालीन विश्व में सफल होने के लिए आवश्यक सांस्कृतिक और सामाजिक कौशल को सिखाते हैं। पुराने समय में, सामाजिक कौशल और शिष्टाचार जैसे, अच्छा आचरण प्रमुख रूप से परिवार में ही सिखाया जाता था। हम इस बारे में ऐसे भी सोच सकते हैं कि आजकल जो निजी संस्थाओं में होड़ लगी है-नए विद्यालय, महाविद्यालय और कोचिंग क्लासेस को चलाने के लिए वो भी इस बात को दर्शाती है कि किस तरह से शिक्षा का पण्यीकरण हो रहा है।

क्रियाकलाप 4.2

पण्यीकरण बड़ा शब्द है, जो सुनने में जटिल लगता है। पर जिन प्रक्रियाओं की तरफ़ वो इशारा करता है उनसे हम परिचित हैं और वे हमारे दैनिक जीवन का हिस्सा है। एक साधारण उदाहरण है: बोतल का पानी।

शहर या कस्बे में, यहाँ तक की अधिकांश गाँवों में भी बोतल का पानी खरीदना अब संभव है; 2, 1 लीटर या उससे छोटे पैमाने में वो हर एक जगह बेची जाती है। अनेक कंपनियाँ हैं और अनेक ब्रांड के नाम हैं जिससे पानी की बोतलें पहचानी जाती हैं। पर यह एक नयी प्रघटना है जो दस-पन्द्रह साल से ज़्यादा पुरानी नहीं है। मुमकिन है कि आप खुद उस समय को याद कर सकते हैं जब पानी की बोतलें नहीं बिका करती थीं। बड़ों से पूछो। माता-पिता के पीढ़ी के लोगों को अजीब लगा होगा और आप के दादा-दादी के जमाने में तो इसके बारे में बिरले लोगों ने सुना या सोचा होगा। ऐसा सोचना भी कि पेयजल के लिए कोई पैसा माँग सकता है, उनके लिए अविश्वसनीय होगा। पर, आज यह हमारे लिए आम बात है, एक साधारण-सी बात, एक वस्तु जिसे हम खरीद (या बेच) सकते हैं। इसी को पण्यीकरण (commoditisation/commodification) कहते हैं, एक प्रक्रिया जिसके द्वारा कोई भी चीज़ जो बाज़ार में नहीं बिकती हो वह बाज़ार में बिकने वाली एक वस्तु बन जाती है और बाज़ार अर्थव्यवस्था का एक भाग बन जाती है। क्या आप ऐसी चीजों के बारे में सोच सकते हैं जो हाल ही में बाज़ारों में शामिल हुई हों? याद रहे कि यह जरूरी नहीं कि कोई वस्तु ही एक पण्य हो, कोई सेवा भी पण्य हो सकती है। ऐसी चीजों के बारे में भी सोचें जो आज पण्य भले न हों पर भविष्य में हो सकती हों। आप कारण भी सोचें की ऐसा क्यों होगा। अंत में, इस बारे में भी सोचें कि पहले जमाने की कुछ चीजें अब बिकनी बंद क्यों हो गई हैं (मतलब जिनका पहले विनिमय में योगदान था पर अब नहीं है) क्यों और कब कोई कमॉडिटी, कमॉडिटी नहीं रह जाती?

पूँजीवादी समाज की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि **उपभोग** अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और इसके सिर्फ़ आर्थिक कारण नहीं हैं बल्कि इसका एक प्रतीकात्मक अर्थ है। आधुनिक समाजों में उपभोग एक महत्त्वपूर्ण तरीका है जिसके द्वारा सामाजिक भिन्नता का निर्माण होता है और उन्हें प्रदर्शित किया जाता है। उपभोक्ता अपनी सामाजिक, आर्थिक स्थिति या सांस्कृतिक प्राथमिकताओं को कुछ विशेष वस्तुओं को खरीदकर या उनका प्रदर्शन कर प्रदर्शित करता है और कंपनियाँ उन बातों पर गौर करती हैं और वो अपने सामान, प्रस्थिति या संस्कृति के प्रतीकों के आधार पर बनाती एवं बेचती हैं। टेलीविजन पर आने वाले और सड़कों पर लगे इश्तहारों के बारे में, जिन्हें हम रोज देखते हैं और उस विज्ञापन में छुपे अर्थ के बारे में सोचिए जिसे विज्ञापनदाता ने अपने उत्पाद की बिक्री के लिए विज्ञापन से जोड़ने की कोशिश की है।

समाजशास्त्र के संस्थापकों में से एक मैक्स वेबर ने पहली बार इस बात को लोगों के सामने रखा कि लोग जो सामान खरीदते हैं एवं उपयोग करते हैं वह समाज में उनकी प्रस्थिति से गहनता से जुड़ा होता है। उन्होंने इसको प्रतिष्ठा का प्रतीक माना। उदाहरण के तौर पर, भारत में आज मध्यम वर्गीय परिवारों में उनके पास जो कार का मॉडल होता है या जिस कंपनी के सेलफोन इस्तेमाल करते हैं वो उनकी सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति का अनुमान लगाने के प्रमुख साधन हैं। वेबर ने इस बारे में भी लिखा कि किस तरह से लोगों की जीवनशैली के आधार पर उनके वर्गों और प्रस्थिति समूहों में भिन्नता की जाती है। उपभोग जीवन का एक पक्ष है पर उसमें ये बातें भी शामिल हैं कि आप अपने घर को किस तरह से सजाते हैं, आप किस तरह के कपड़े पहनते हैं, किस तरह के मनोरंजन को पसंद करते हैं और दैनिक जीवन के अन्य पक्ष भी इसमें शामिल हैं। समाजशास्त्री आधुनिक समाज में उपभोग के स्वरूप और जीवनशैलियों का उनके सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्त्व के कारण अध्ययन करते हैं।

क्रियाकलाप 4.3

विज्ञापनों की व्याख्या

अखबारों और किताबों से विज्ञापन इकट्ठा करें। उन में से दो या तीन विज्ञापन चुनें जो आपको रुचिकर लगे हों। इनमें से प्रत्येक विज्ञापन के लिए निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश करें:

1. किस उत्पाद का विज्ञापन किया जा रहा है और उस उत्पाद का किस तरह से चित्रण किया गया है?
2. विज्ञापनदाता ने किस तरह से एक सामाजिक प्रस्थिति और जीवनशैली को अपने उत्पाद से जोड़ने की कोशिश की है?

4.3 भूमंडलीकरण: स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों का गठजोड़

1980 के दशक के बाद, भारत ने अपने आर्थिक इतिहास के नए दौर में प्रवेश किया, ये मुख्यत: राज्य स्तरीय विकास से **उदारवाद** जैसी आर्थिक नीति के परिवर्तन की वजह से हुआ। इस बदलाव से **भूमंडलीकरण** के युग की शुरुआत हुई। वह दौर जिसमें दुनिया पहले से ज़्यादा अंतर्संबंधित है सिर्फ़ आर्थिक तौर पर ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक और राजनीतिक तौर पर भी। भूमंडलीकरण के कई रुझान होते हैं, उनमें से खास हैं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वस्तुओं, पूँजी, समाचार और लोगों का संचलन एवं साथ ही प्रौद्योगिकी (कंप्यूटर, दूरसंचार और परिवहन के क्षेत्र में) और अन्य आधारभूत सुविधाओं का विकास, जो इस संचलन को गति प्रदान करते हैं।

भूमंडलीकरण की एक केंद्रीय विशेषता दुनिया के चारों कोनों में बाज़ारों का विस्तार और एकीकरण का बढ़ना है। इस एकीकरण का अर्थ है कि दुनिया के किसी एक कोने में किसी बाज़ार में परिवर्तन होता है तो दूसरे कोनों में उसका अनुकूल-प्रतिकूल असर हो सकता है। जैसे, अगर अमेरीकी बाज़ार में गिरावट

आती है तो भारतीय सॉफ्टवेयर के उद्योग में भी गिरावट आएगी (जैसाकि न्यूयार्क में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर 9/11 के हमले के बाद हमें देखने को मिला था) जिससे इस क्षेत्र में लोगों का व्यवसाय एवं नौकरियाँ जाती रहेंगी। सॉफ्टवेयर सेवा उद्योग और व्यापार में बाह्यस्त्रोतों के प्रयोग का उद्योग (Business Process outsourcing-BPO) (जैसे, कॉलसेंटर) उन प्रमुख उद्योगों में से हैं जिसके द्वारा भारत वैश्विक अर्थव्यवस्था से लगातार जुड़ता जा रहा है। यहाँ की कंपनियाँ पश्चिम के विकसित देशों के उपभोक्ताओं को सस्ते दाम पर श्रम और सेवाएँ मुहैया कराती हैं। हम कह सकते हैं कि अब भारतीय सॉफ्टवेयर संबंधी सेवाएँ और उसी प्रकार की अन्य और सेवाओं का विश्वभर में एक बाज़ार बन गया है।

भूमंडलीकरण के अंतर्गत सिर्फ़ पूँजी और वस्तुओं का ही नहीं बल्कि लोगों, सांस्कृतिक उत्पादों और छवियों का भी दुनिया भर में परिचालन होता है। यह विनिमय के नए दायरों से प्रवेश करती है और नए बाज़ारों का निर्माण करती है। उत्पाद, सेवाएँ और सांस्कृतिक तत्व जो पहले बाज़ार व्यवस्था से बाहर थे

अप्रत्यक्ष बाज़ार : समय और दूरी पर विजय?

बॉक्स 4.3

मैसूर से नासदाक का उद्‌घाटन

इनफोसिस का दूर संचारित लिपियों का अंश जिससे अमेरीकी शेयर बाज़ार खुला

मैसूर: अगर आप को भी नहीं लगता कि दुनिया समतल हो गई है तो इस पर गौर करें- इनफोसिस प्रद्योग ने नासदाक के शेयर बाज़ार के सुबह खुलने की उद्‌घोषणा की, वो भी मैसूर से बैठे-बैठे। यहाँ शाम के सात बजे (अमेरीका का 9.30 प्रात:) इनफोसिस के सभापति और मुख्य संचालक एन. आर. नारायणमूर्ति ने एक घंटी बजाकर नासदाक के टाइम्स स्केवयर, न्यूयार्क के बाज़ार स्थल का सोमवारी बाज़ार खोला... ये शुरुआती घंटी, एक उत्सवी घटना है जो नासदाक के अप्रत्यक्ष बाज़ार प्रारूप का प्रतीक है। चूँकि नासदाक का संचालन पूर्णत: इलैक्ट्रॉनिक है यह दुनिया के किसी भी हिस्से से खोला जा सकता है और यह प्रतीकात्मक तौर पर व्यापार के प्रत्येक दिन की शुरुआत में पूँजीनिवेशकों और बाज़ार के प्रतिभागियों को एक-दूसरे से जोड़ता है।

स्रोत: समाचार का अंश, द टाइम्स ऑफ़ इंडिया, बैंगलूर, 1 अगस्त, 2006

बॉक्स 4.3 के लिए अभ्यास

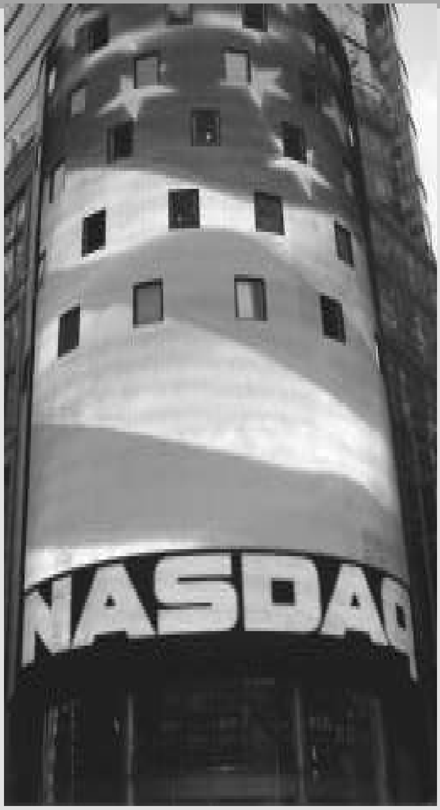

नासदाक एक प्रमुख इलेक्ट्रानिक विनिमय केंद्र का नाम है जो न्यूयार्क में स्थित है। इसका संचालन विशेष रूप से कंप्यूटर आधारित इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों से होता है। यह दुनिया भर के ब्रोकरों और निवेशकों को उन कंपनियों के शेयर के खरीद-फ़रोख़्त में मदद करता है जो उससे पंजीकृत है। यह सौदे 'वास्तविक समय' में होते हैं अर्थात् चंद सैकेंड्स में मामले तय कर दिए जाते हैं और वो भी बिना कागज़ी कार्यवाही या कागज़ी मुद्रा के। ऊपर दिए गए समाचार के अंश को ध्यान से पढ़ें एवं निम्नलिखित प्रश्नों का जवाब दें:

1. एक स्टॉक बाज़ार में व्यापार (जैसे कि, नासदाक या मुंबई स्टॉक एक्सचेंज) अन्य बाज़ारों में व्यापार से कैसे अलग है? आप स्टॉक एक्सचेंज के बारे में अखबारों, मैगजीनों और इंटरनेट से और जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
2. यह घटना जो कि अमेरिका में स्थित नासदाक बाज़ार का मैसूर से इंफोसिस के सभापति नारायणमूर्ति द्वारा किए गए उद्‌घाटन के बारे में है आपको आज की दुनिया के बाज़ारों के बारे में (विशेषकर शेयर और वित्तीय बाज़ार के बारे में) और भारत के वैश्विक अर्थव्यवस्था से संबंधों के बारे में क्या बताती है?
3. लेख में उद्‌घाटन की घटना को एक समारोह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। क्या आप ऐसे ही किसी अन्य उद्‌घाटन उत्सव की प्रथा के बारे में सोच सकते हैं जो अन्य प्रकार के बाज़ारों में महत्त्वपूर्ण है?

अब उसके हिस्से हैं। एक उदाहरण है भारतीय अध्यात्म और ज्ञान व्यवस्थाओं (जैसे, योग और आयुर्वेद) का पश्चिम में बाज़ारीकरण। अंतर्राष्ट्रीय पर्यटन का बढ़ता बाज़ार भी यह दर्शाता है कि खुद संस्कृति कैसे बाज़ार का एक हिस्सा बन जाती है। इसका एक उदाहरण है पुष्कर, राजस्थान में लगने वाला प्रसिद्ध वार्षिक मेला जिसमें दूर-दराज से, व्यापारी और पशुचारी ऊँटों और अन्य पशुओं को बेचने एवं खरीदने आते हैं। जहाँ स्थानीय लोगों के लिए पुष्कर मेला एक भव्य सामाजिक और आर्थिक उपलक्ष्य होता है वहीं अब

बॉक्स 4.4

जब बाज़ार भी बिकता हो : पुष्कर पशु मेला

"कार्तिक का महीना आते ही... ऊँटों के गाड़ीवान अपने रेगिस्तानी जहाज़ों को सजाते हैं और कार्तिक पूर्णिमा के वक्त पहुँचने के लिए समय से पुष्कर की लंबी यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं... यहाँ हर साल लगभग 2,00,000 लोग और 50,000 ऊँट और अन्य पशुओं का जमावड़ा लगता है। वो उन्माद देखते ही बनता है जब रंग, शोर और चहल-पहल से लोग घिरे होते हैं, संगीतवादक, रहस्यवादी, पर्यटक, व्यापारी, पशु और भक्त सब एक जगह इकट्ठा होते हैं। एक तरह से कहें तो यह ऊँटों को सँवारने का निर्वाण है-जिसमें मकई के बाल की तरह बाल सँवारे हुए ऊँटों, पायलों की झनकार, कढ़ाई किए वस्त्रों और टम-टम पर सवार लोगों से आपकी अद्‌भुत भेंट हो सकती है।"

"ऊँटों के मेले के साथ ही धार्मिक प्रतिष्ठान भी एक जंगली-जादुई चरम पर होता है-अगरबत्तियों का घना धुँआ, मंत्रों का शोर और मेले की रात में, हज़ारों भक्त नदी में डुबकी लगाकर अपने पाप धोते हैं और पवित्र पानी में टिमटिमाते दिए छोड़ते हैं।"

स्रोत: *लोनली प्लानेट,* भारत के लिए पर्यटन गाइड के ग्यारहवें संस्करण से

बॉक्स 4.4 के लिए अभ्यास

बॉक्स 4.4 में दिए गए लेखांश को पढ़ें जो कि विदेशी पर्यटकों के लिए एक पर्यटन पुस्तिका से लिया गया है। यह लेखांश पढ़ने से आपको पता चलेगा कि किस तरह से एक बाज़ार, इस मामले में पारंपरिक वार्षिक पशु बाज़ार और पुष्कर मेला अन्य बाज़ार में बिकने वाली वस्तु बन गए और यह अन्य बाज़ार यहाँ पर्यटन बाज़ार हैं। सवालों का उत्तर देने से पहले कक्षा में इस लेखांश के बारे में चर्चा करें:

1. पुष्कर के अंतर्राष्ट्रीय पर्यटन के दायरे में आ जाने से इस जगह पर कौन सी नयी वस्तुओं, सेवाओं, पूँजी और लोगों के दायरे का विकास हुआ है?
2. आपके विचार में बड़ी संख्या में भारतीय एवं विदेशी पर्यटकों के आने से मेले का रूप किस तरह से बदल गया है?
3. इस जगह का धार्मिक उन्माद किस तरह से इसकी बाज़ारी कीमत को बढ़ाता है? क्या हम कह सकते हैं कि भारत में अध्यात्म का एक बाज़ार है?
4. क्या आप ऐसे ही और उदाहरण सोच सकते हैं जिसमें धर्म, परंपराएँ, ज्ञान या यहाँ तक की छवियाँ भी (उदाहरण के लिए, पारंपरिक पोशाक में एक राजस्थानी महिला का चित्र) वैश्विक बाज़ार में एक वस्तु बन गयी हैं?

ये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी एक बड़े पर्यटन स्थल के नाम से जाना जाता है। यह मेला पर्यटकों के लिए और भी अधिक आकर्षण का कारण है क्योंकि यह कार्तिक पूर्णिमा के ठीक पहले आता है, जब हिंदू तीर्थयात्री पवित्र पुष्कर तालाब में नहाने आते हैं। इस तरह, हिंदू तीर्थयात्रियों, ऊँटों, व्यापारियों और विदेशी पर्यटकों का सम्मेलन हो जाता है जिसमें सिर्फ़ पशुओं और पैसे का विनिमय ही नहीं बल्कि धार्मिक पुण्यों और सांस्कृतिक प्रतीकों की भी अदला-बदली होती है।

उदारवादिता पर बहस : बाज़ार बनाम राज्य

भारतीय अर्थव्यवस्था का भूमंडलीकरण प्राथमिक तौर पर उदारीकरण की नीति की वजह से हुआ है जो कि 1980 के दशक में शुरू हुई। उदारवादिता में कई तरह की नीतियाँ शामिल हैं जैसे, सरकारी विभागों का निजीकरण (सरकारी संस्थानों को प्राइवेट कंपनियों को बेच देना); पूँजी, श्रम और व्यापार में सरकारी दखल कम कर देना; विदेशी वस्तुओं के आसान आयात के लिए आयात शुल्क में कमी करना; और विदेशी कंपनियों को भारत में उद्योग स्थापित करने में सहूलियत देना। बाज़ारीकरण या इन परिवर्तनों को सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए बाज़ार या बाज़ार-आधारित प्रक्रियाओं (सरकारी नियमों और नीतियों के बजाय) के उपयोग से भी समझ सकते हैं। इसमें आर्थिक नियंत्रण को सरकार द्वारा कम या खत्म कर देना, उद्योगों का निजीकरण और मजदूरी और मूल्यों पर से सरकारी नियंत्रण को खत्म कर देना शामिल है। जो लोग बाज़ारीकरण का समर्थन करते हैं उनका मानना है कि इससे समाज में आर्थिक संवृद्धि और समृद्धि आएगी क्योंकि सरकारी संस्थाओं की अपेक्षा ये निजी संस्थाएँ ज्यादा कुशल होती हैं।

उदारवाद के कार्यक्रमों के तहत जो परिवर्तन हुए उन्होंने आर्थिक संवृद्धि को बढ़ाया और इसके साथ ही भारतीय बाज़ारों को विदेशी कंपनियों के लिए खोला। उदाहरण के लिए, अब बहुत सारी विदेशी वस्तुएँ यहाँ बिकती हैं, जो पहले यहाँ नहीं मिलती थीं। माना जाता है कि विदेशी पूँजी के निवेश से आर्थिक विकास होता है और रोज़गार बढ़ते हैं। सरकारी कंपनियों के निजीकरण से कुशलता बढ़ती है और सरकार पर दबाव कम होता है। हालाँकि, उदारीकरण का असर मिश्रित रहा है। कई लोगों का यह भी मत है कि उदारीकरण का भारतीय परिवेश पर प्रतिकूल असर ही हुआ है और आगे के दिनों में भी ऐसा ही होगा, हम अपनी ज़्यादा चीज़ें खोकर कम चीज़ों को पाएँगे। भारतीय उद्योग के कुछ क्षेत्रों (जैसे, सॉफ्टवेयर या सूचना तकनीकी)या खेती (में जैसे मछली या फल उत्पादन) को शायद वैश्विक बाज़ार से फ़ायदा हो सकता है पर अन्य क्षेत्रों (जैसे, ऑटोमोबाइल्स, इलेक्ट्रॉनिक्स और तेलीय अनाजों के उद्योग) पर गहरा असर पड़ेगा क्योंकि यह उद्योग विदेशी उत्पादकों से प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाएँगे।

उदाहरण के तौर पर, भारतीय किसान अब अन्य देशों के किसानों के उत्पादों से प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं क्योंकि कृषि संबंधित उत्पादों का आयात अब संभव है। पहले भारतीय कृषि सहायता मूल्य और सब्सिडी द्वारा विश्व बाज़ार से सुरक्षित थी। यह समर्थन मूल्य किसानों की न्यूनतम आमदनी को सुनिश्चित करता है क्योंकि यह वह मूल्य थे जिस पर सरकार कृषक उत्पादों को खरीदने को तैयार रहती है। सब्सिडी से किसानों द्वारा इस्तेमाल में लाने वाली चीजें जैसे, खाद उर्वरक, डीजल-तेल का भी सरकार दाम घटा देती थी। उदारवाद बाज़ार में इस तरह की सरकारी मदद के खिलाफ़ है अत: सब्सिडी और समर्थन मूल्य को घटा दिया या हटा लिया गया। इसका मतलब ये हुआ कि बहुतेरे किसान अपनी रोजी-रोटी कमाने में भी असफल रहे हैं। इसी प्रकार छोटे उत्पादकों को विश्व स्तर के उत्पादकों के सामानों के साथ प्रतिस्पर्धा करनी पड़ रही है और ये अपवाद नहीं है कि उनमें से कुछ का बिल्कुल सफ़ाया हो जाए। निजीकरण में उन सरकारी विभागों के मुलाजिमों की नौकरी भी कम हो गई है या कह सकते हैं वो रोज़गार के स्रोत

अब स्थिर नहीं हैं। गैर सरकारी असंगठित रोज़गार उभर कर सामने आ रहे हैं और सरकारी संगठित विभागों में नौकरियाँ कम होती जा रही हैं। ये कामगारों के लिए ठीक नहीं है क्योंकि अब उन्हें कम तनख्वाह और अस्थायी नौकरियाँ ही हाथ लगेंगी (कक्षा 12 की दूसरी पाठ्यपुस्तक *भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास* में कृषक परिवर्तन एवं उद्योग पर लिखे अध्याय को देखें)।

इस अध्याय में हमने देखा कि भारत में आज एक ग्रामीण हाट से लेकर अप्रत्यक्ष स्टॉक एक्सचेंज जैसे विभिन्न प्रकार के बाज़ार भी हैं। ये बाज़ार खुद भी सामाजिक संस्था हैं और ये बाकी सामाजिक संस्थाओं जैसे, परिवार, जाति, वर्ग से विभिन्न तरीकों से जुड़े हुए हैं। इसके साथ ही हमने ये जाना कि विनिमय के सिर्फ़ आर्थिक मायने ही नहीं होते उसके सांकेतिक और सांस्कृतिक पहलू भी होते हैं। खासकर के उदारवादिता के दिनों में जब सामानों और सेवाओं का तेजी से संचलन हो रहा है। भारत के उदारीकरण के बाद के बाज़ारी परिवेश में जो भूमंडलीकरण का अभिन्न हिस्सा भी है। ऐसे तमाम तरीके और प्रणालियाँ हैं जो चीज़ों, सेवाओं, सांस्कृतिक प्रतीकों, पूँजी को बाज़ारी माहौल में प्रवेश दिलाती हैं, आंचलिक ग्रामीण बाज़ार से लेकर विश्वव्यापी व्यापारी क्षेत्रों तक जैसे, नासदक। आज के तेज़ी से बदलते युग में यह समझना आवश्यक है कि किस तरह से बाज़ार निरंतर बदल रहे हैं और इन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के परिणाम क्या हैं।

प्रश्नावली

1. 'अदृश्य हाथ' का क्या तात्पर्य है?
2. बाज़ार पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण, आर्थिक दृष्टिकोण से किस तरह अलग है?
3. किस तरह से एक बाज़ार जैसे कि एक साप्ताहिक ग्रामीण बाज़ार, एक सामाजिक संस्था है?
4. व्यापार की सफलता में जाति एवं नातेदारी संपर्क कैसे योगदान कर सकते हैं?
5. उपनिवेशवाद के आने के पश्चात् भारतीय अर्थव्यवस्था किन अर्थों में बदली?
6. उदाहरणों की सहायता से 'पण्यीकरण' के अर्थ की विवेचना कीजिए?
7. 'प्रतिष्ठा का प्रतीक' क्या है?
8. 'भूमंडलीकरण' के तहत कौन-कौन सी प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं?
9. 'उदारीकरण' से क्या तात्पर्य है?
10. आपकी राय में, क्या उदारीकरण के दूरगामी लाभ उसकी लागत की तुलना से अधिक हो जाएँगे? कारण सहित उत्तर दीजिए।

संदर्भ ग्रंथ

बेली, सी. ए. 1983. *रूलर्स, टाउंसमैन एंड बाज़ार्स; नॉर्थ इंडियन सोसायटी इन द एज ऑफ़ ब्रिटिश एक्सपेंशन, 1770-1870.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. दिल्ली।

दुर्खाइम, ईमाइल. 1964(1933). द *डिवीज़न ऑफ़ लेबर इन सोसायटी.* फ्री प्रेस. न्यूयार्क।

गेल, अलफ्रेड. 1982. 'द मार्केट व्हील: सिंबोलिक आस्पेक्ट्स ऑफ़ एन इंडियन ट्राइबल मार्केट'. *मैन.* (एन. एस.) 17(3):470-91।

हार्डग्रोव, एनी. 2004. *कम्युनिटी एंड पब्लिक कल्चर;* द *मारवाड़ीस इन केलकटा.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. नयी दिल्ली।

मेलिनोवस्की, ब्रान्सला. 1961(1921). *अर्बोनॉट्स ऑफ* द *वेस्टर्न पेसिफिक.* ई. पी. डट्टन एंड कंपनी. न्यूयार्क।

मॉस, मार्शल. 1967. द *गिफ्ट; फॉर्मस एंड फंक्शंस ऑफ़ एक्सचेंज इन आरकिक सोसायटीज़.* डब्लयू. डब्लयू. नॉटर्न एंड कंपनी. न्यूयार्क।

पॉलनी, कार्ल. 1994. द *ग्रेट ट्रांस्फॉरमेशन.* बेकन प्रेस. बोस्टन।

रुडनर, डेविड. 1994. *कास्ट एंड केपिटेलिज़्म इन कॉलोनियल इंडिया;* द *नट्टूकोटाई चेट्टीयार्स.* यूनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफोर्निया प्रेस. बर्कले।

स्टीन, बर्टन एंड संजय, सुब्रह्मनयम. संपा. 1996. इंस्टीट्यूशंस एंड इकॉनामिक चेंज इन साउथ एशिया. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. नयी दिल्ली।

टिप्पणियाँ

अध्याय 5

सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के स्वरूप

हमने पिछले दो अध्यायों में परिवार, जाति, जनजाति और बाज़ार जैसी सामाजिक संस्थाओं पर विचार किया। तीसरे और चौथे अध्याय में इन संस्थाओं का समुदायों को बनाने तथा समाज को बनाए रखने में इनकी भूमिका के दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में हम इन संस्थाओं के उतने ही महत्त्वपूर्ण पक्ष जैसे कि समाज के भीतर असमानता एवं बहिष्कार का सृजन करने एवं उसे कायम रखने में इनकी भूमिका का अध्ययन करेंगे।

भारत में जन्मे और यहीं पले-बढ़े लोग जानते हैं कि सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार जीवन की एक वास्तविकता है। हम गलियों में और रेलवे प्लेटफॉर्म पर भिखारियों को देखते हैं। हम छोटे-छोटे बच्चों को घरेलू नौकर, भवन निर्माण के काम में कार्य करते हुए, सड़क के किनारे बने ढाबों, चाय की दुकानों में सफाई करने वालों और काम करने वालों के रूप में देखते हैं। हम इन छोटे बच्चों को, जो कि नगरीय मध्य वर्ग के घरों में घरेलू नौकर के रूप में काम करते हैं, अपने से बड़े बच्चों का स्कूल बस्ता ढोते हुए देखकर आश्चर्यचकित नहीं होते हैं। यह हमें एक अन्याय के रूप में महसूस ही नहीं होता कि कुछ बच्चों को शिक्षा से वंचित किया जा रहा है। हममें से कुछ विद्यालयों में बच्चों के साथ जातिगत भेदभाव के बारे में पढ़ते हैं और कुछ इसका सामना करते हैं। इसी प्रकार महिलाओं के खिलाफ़ हिंसा एवं अल्पसंख्यक समूहों तथा **अन्यथा सक्षम** लोगों के बारे में पूर्वाग्रह की खबरें भी हम रोज़ाना पढ़ते हैं।

सामाजिक असमानता एवं बहिष्कार का यह रोज़मर्रापन-इनका इस प्रकार रोज़ाना घटित होना-इन्हें स्वाभाविक बना देता है। हमें लगने लगता है कि यह एकदम सामान्य बात है, ये कुदरती चीज़े हैं जिन्हें बदला नहीं जा सकता। अगर हम असमानता एवं बहिष्कार को कभी-कभी अपरिहार्य नहीं भी मानते हैं तो अक्सर उन्हें उचित या 'न्यायसंगत' भी मानते हैं। शायद लोग गरीब अथवा वंचित इसलिए होते हैं क्योंकि उनमें या तो योग्यता नहीं होती या वे अपनी स्थिति को सुधारने के लिए पर्याप्त परिश्रम नहीं करते। ऐसा मानकर हम उन्हें ही उनकी परिस्थितियों के लिए दोषी ठहराते हैं। यदि वे अधिक परिश्रम करते या बुद्धिमान होते तो वहाँ नहीं होते जहाँ वे आज हैं।

गौर से देखने पर हम यह पाते हैं कि जो लोग समाज के सबसे निम्न स्तर के हैं, वही सबसे ज़्यादा परिश्रम करते हैं। एक दक्षिण अमेरिकी कहावत है, "यदि परिश्रम इतनी ही अच्छी चीज़ होती तो अमीर लोग हमेशा उसे अपने लिए बचा कर रखते!" संपूर्ण विश्व में पत्थर तोड़ना, खुदाई करना, भारी वजन उठाना, रिक्शा या ठेला खींचना जैसे कमरतोड़ काम गरीब लोग ही करते हैं। फिर भी वे अपना जीवन शायद ही सुधार पाते हैं। ऐसा कितनी बार होता है कि कोई गरीब मज़दूर एक छोटा-मोटा ठेकेदार भी बन पाया हो? ऐसा तो केवल फ़िल्मों में ही होता है कि एक सड़क पर पलने वाला बच्चा उद्योगपति बन सकता है। परंतु फ़िल्मों में भी अधिकतर यही दिखाया जाता है कि ऐसे नाटकीय उत्थान के लिए गैर कानूनी या अनैतिक तरीका ज़रूरी है।

क्रियाकलाप 5.1

अपने पड़ोस में रहने वाले कुछ धनी और गरीब व्यक्तियों की तलाश करें जिनसे आप या आपका परिवार परिचित है। (उदाहरण के लिए, एक रिक्शावाला या कुली या घरेलू नौकर और एक सिनेमाघर

का मालिक या ठेकेदार या होटल मालिक या डॉक्टर... आपके परिवेश में कुछ और भी व्यक्ति हो सकते हैं)। प्रत्येक समूह के एक व्यक्ति से उसकी दिनचर्या मालूम करें। प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिदिन के क्रियाकलाप, यानी कार्य के सामान्य दिनों में सुबह उठने से लेकर रात को सोने तक की गतिविधियों को डायरीबद्ध करें। इन डायरियों के आधार पर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें तथा अपने सहपाठियों के साथ विचार-विमर्श करें।

- ये व्यक्ति कितने घंटे काम करते हैं? वे किस तरह का काम करते हैं? क्या उनका काम थकाने वाला, तनावयुक्त, सुखद या अरुचिकर है? कार्य स्थल पर उनके अन्य व्यक्तियों से कैसे संबंध होते हैं—क्या वे दूसरों को आदेश देते हैं या दूसरों के आदेशों का पालन करते हैं? क्या वे दूसरों के सहयोग पर निर्भर हैं या दूसरों पर नियंत्रण रखते हैं? जिनके साथ वे काम करते हैं क्या वे उनसे आदरपूर्वक व्यवहार करते हैं या उन्हें ही दूसरे व्यक्तियों को आदर देना पड़ता है?

ऐसा भी हो सकता है कि गरीब और कभी-कभार धनी व्यक्ति भी कोई काम न कर रहा हो या अभी उसके पास काम न हो। यदि ऐसा है तब भी आप उनकी दिनचर्या मालूम करें और निम्नलिखित कुछ और प्रश्नों का उत्तर दें।

- वह व्यक्ति 'बेरोज़गार' क्यों है? क्या वह कोई काम ढूँढ़ रहा है? वह अपना निर्वाह कैसे करता है? उनकी बेरोज़गारी का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या उनकी जीवनशैली अब उस समय से अलग है जब वह काम कर रहे थे?

क्रियाकलाप 5.1 आपको सामान्य तौर पर व्याप्त इस सहजबोध पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरित करता है कि एक व्यक्ति के जीवन में सिर्फ़ कठोर परिश्रम से सुधार संभव है। यह सच है कि कठोर परिश्रम तथा व्यक्तिगत योग्यता महत्त्वपूर्ण है। यदि बाकी सभी चीज़ें बराबर हों, तब व्यक्तिगत प्रयास, योग्यता एवं भाग्य ही व्यक्तियों के बीच के अंतर के लिए उत्तरदायी है। लेकिन जैसाकि हमेशा होता है सभी चीजें एक समान नहीं होती हैं। यही अवैयक्तिक अथवा सामूहिक विभिन्नताएँ सामाजिक असमानता एवं बहिष्कार को स्पष्ट करती हैं।

5.1 सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार सामाजिक कैसे है?

इस खंड में पूछे गए प्रश्न के तीन प्रमुख उत्तर हो सकते हैं जो संक्षिप्त रूप से इस प्रकार हैं पहला, सामाजिक विषमता (असमानता) एवं बहिष्कार सामाजिक इसलिए है क्योंकि वे व्यक्ति से नहीं बल्कि समूह से संबद्ध है। दूसरे, ये सामाजिक हैं क्योंकि ये आर्थिक नहीं हैं, यद्यपि सामाजिक तथा आर्थिक असमानता में सामान्यतः एक मज़बूत संबंध होना है। तीसरे, ये व्यवस्थित एवं संरचनात्मक हैं अर्थात् सामाजिक असमानता का एक निश्चित स्वरूप है। 'सामाजिकता' के इन तीनों अर्थों पर आगे संक्षेप में विश्लेषण किया जाएगा।

सामाजिक विषमता

प्रत्येक समाज में कुछ लोगों के पास धन, संपदा, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं शक्ति जैसे मूल्यवान संसाधन का दूसरों की अपेक्षा ज़्यादा बड़ा हिस्सा होता है। यह सामाजिक संसाधन पूँजी के तीन रूपों में विभाजित किए

जा सकते हैं: भौतिक संपत्ति एवं आय के रूप में *आर्थिक पूँजी;* प्रतिष्ठा और शैक्षणिक योग्यताओं के रूप में *सांस्कृतिक पूँजी;* सामाजिक संगतियों एवं संपर्कों के जाल के रूप में *सामाजिक पूँजी* (बोरदयू 1986)। पूँजी के ये तीनों रूप अक्सर आपस में घुले-मिले होते हैं तथा एक को दूसरे में बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए, एक संपन्न परिवार का व्यक्ति अपनी आर्थिक पूँजी के ज़रिए महँगी उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है; इस तरह वह अपनी आर्थिक पूँजी को सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक स्वरूप दे सकता है। उसी प्रकार एक अन्य व्यक्ति अपने प्रभावशाली मित्रों व संबंधियों (यानी अपनी सामाजिक पूँजी) के ज़रिए अच्छी सलाह, सिफारिश या जानकारी पा सकता है और इनके द्वारा एक अच्छी आय वाली नौकरी पाकर सामाजिक पूँजी को आर्थिक पूँजी में बदल सकता है।

सामाजिक संसाधनों तक असमान पहुँच की पद्धति ही साधारणतया सामाजिक विषमता कहलाती है। कुछ सामाजिक विषमताएँ व्यक्तियों के बीच स्वाभाविक भिन्नता को प्रतिबिंबित करती हैं उदाहरणस्वरूप उनकी योग्यता एवं प्रयास में भिन्नता। कोई व्यक्ति असाधारण बुद्धिमान या प्रतिभावान हो सकता है या यह भी हो सकता है कि उसने समृद्धि और अच्छी स्थिति पाने के लिए कठोर परिश्रम किया हो तथापि सामाजिक विषमता व्यक्तियों के बीच सहज या 'प्राकृतिक' भिन्नता की वजह से नहीं है, बल्कि यह उस समाज द्वारा उत्पन्न की जाती है जिसमें वे रहते हैं। वह व्यवस्था जो एक समाज में लोगों का वर्गीकरण करते हुए एक अधिक्रमित संरचना में उन्हें श्रेणीबद्ध करती है उसे समाजशास्त्री *सामाजिक स्तरीकरण* कहते हैं। यह अधिक्रम लोगों की पहचान एवं अनुभव, उनके दूसरों से संबंध तथा साथ ही संसाधनों एवं अवसरों तक उनकी पहुँच को आकार देता है। तीन मुख्य सिद्धांत सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या करते हैं:

1. *सामाजिक स्तरीकरण व्यक्तियों के बीच की विभिन्नता का प्रकार्य ही नहीं बल्कि समाज की एक विशिष्टता है।* सामाजिक स्तरीकरण समाज में व्यापक रूप से पाई जाने वाली व्यवस्था है जो सामाजिक संसाधनों को, लोगों की विभिन्न श्रेणियों में, असमान रूप से बाँटती है। तकनीकी रूप से सबसे अधिक आदिम समाजों में जैसे, शिकारी एवं संग्रहकर्ता समाज में बहुत थोड़ा उत्पादन होता था अत: केवल प्रारंभिक सामाजिक स्तरीकरण ही मौजूद था। तकनीकी रूप से अधिक उन्नत समाज में जहाँ लोग अपनी मूलभूत ज़रूरतों से अधिक उत्पादन करते हैं, सामाजिक संसाधन विभिन्न सामाजिक श्रेणियों में असमान रूप से बँटा होता है, जिसका लोगों की व्यक्तिगत क्षमता से कुछ भी लेना-देना नहीं होता है।

2. *सामाजिक स्तरीकरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी बना रहता है।* यह परिवार और सामाजिक संसाधनों के एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में उत्तराधिकार के रूप में घनिष्ठता से जुड़ा है। एक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति *प्रदत्त* अर्थात् अपने आप मिली हुई होती है। अर्थात् बच्चे अपने माता-पिता की सामाजिक स्थिति को पाते हैं। जाति व्यवस्था के अंदर, जन्म ही व्यावसायिक अवसरों को निर्धारित करता है। एक दलित, पारंपरिक व्यवसाय जैसे, खेतिहर मज़दूर, सफ़ाईकर्मी या चमड़े का काम करने वाला अपने कार्य से ही बँधकर रह जाता है और उसके पास ऊँची तनख्वाह वाली सफ़ेदपोश नौकरी या पेशेवर नौकरी के अवसर बहुत कम होते हैं। सामाजिक असमानता का प्रदत्त पक्ष अंतर्विवाह प्रथा से और सुदृढ़ होता है। चूँकि विवाह अपनी जाति के सदस्यों में ही सीमित है, अत: अन्तरजातीय विवाह द्वारा जातीय विभाजनों को क्षीण करने की संभावना खत्म हो जाती है।

3. *सामाजिक स्तरीकरण को विश्वास या विचारधारा द्वारा समर्थन मिलता है।* सामाजिक स्तरीकरण की कोई भी व्यवस्था पीढ़ी-दर-पीढ़ी नहीं चल सकती जब तक कि व्यापक तौर पर यह माना न जाता हो कि वह या तो न्यायसंगत या अपरिहार्य है। उदाहरण के लिए, जाति व्यवस्था को धार्मिक या कर्मकांडीय दृष्टिकोण से शुद्धता एवं अशुद्धता के आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है जिसमें जन्म और व्यवसाय की बदौलत ब्राह्मणों को सबसे उच्च स्थिति और दलितों को सबसे निम्न स्थिति दी गई है। यद्यपि ऐसा नहीं है कि हर व्यक्ति असमानता की इस व्यवस्था को ठीक मानता है। ज़्यादातर वे लोग, जिन्हें अधिक सामाजिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं वही सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था जैसे जाति तथा प्रजाति का ज़ोरदार समर्थन करते हैं। जो इस अधिक्रम में सबसे नीचे हैं और इस वजह से शोषित तथा अपमानित हुए हैं वही इसे सबसे ज़्यादा चुनौती दे सकते हैं।

हम अक्सर सामाजिक भेदभाव और बहिष्कार की केवल आर्थिक संसाधनों के विभेदीकरण के रूप में ही चर्चा करते हैं। जबकि यह आंशिक रूप से ही सत्य है। लोग ज़्यादातर अपने लिंग, धर्म, नृजातीयता, भाषा, जाति तथा विकलांगता की वजह से भेदभाव और बहिष्कार का सामना करते हैं। अत: एक अभिजात्य वर्ग की महिला भी सार्वजनिक स्थान पर यौन उत्पीड़न की शिकार हो सकती है। एक धार्मिक या नृजातीय अल्पसंख्यक समूह के मध्य वर्ग के व्यावसायिक व्यक्ति को भी महानगर की एक मध्यवर्गीय कॉलोनी में रहने के लिए घर लेने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लोग दूसरे सामाजिक समूहों के बारे में ज़्यादातर पूर्वाग्रह से ग्रस्त होते हैं। हम सब एक समुदाय के सदस्य के रूप में बड़े होते हैं जिससे हर अपने 'समुदाय', 'जाति', 'वर्ग' या 'लिंग' के बारे में ही नहीं बल्कि इसके अलावा दूसरों के बारे में भी धारणाएँ बनाते हैं। यह धारणाएँ पूर्वाग्रह से ग्रस्त होती हैं।

पूर्वाग्रह एक समूह के सदस्यों द्वारा दूसरे समूह के बारे में पूर्वकल्पित विचार या व्यवहार होता है। इस शब्द का अक्षरश: अर्थ 'पूर्वनिर्णय' है अर्थात् वह धारणा जो बिना विषय को जाने और बिना उसके तथ्यों को परखे शुरुआत में ही बना ली जाती है। एक पूर्वाग्रहित व्यक्ति के पूर्वकल्पित विचार सबूत-साक्ष्यों के विपरीत सुनी-सुनाई बातों पर आधारित होते हैं। यह नई जानकारी प्राप्त होने के बावजूद बदलने से इंकार करते हैं। पूर्वाग्रह सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों हो सकता है। वैसे ज़्यादातर यह शब्द नकारात्मक रूप से लिए गए पूर्वनिर्णयों के लिए इस्तेमाल होता है पर यह स्वीकारात्मक पूर्वनिर्णयों पर भी लागू होता है। उदाहरणतया, एक व्यक्ति अपनी जाति और समूह के सदस्यों के पक्ष में पूर्वाग्रहित हो सकता है और उन्हें बिना किसी सबूत के दूसरी जाति या समूह के सदस्यों से श्रेष्ठ मान सकता है।

पूर्वाग्रह ज़्यादातर एक समूह के बारे में अपरिवर्तनीय, कठोर और **रूढ़िबद्ध धारणाओं** पर आधारित होते हैं। रूढ़िबद्ध धारणाएँ ज़्यादातर नृजातीय और प्रजातीय समूहों और महिलाओं के बारे में प्रयोग की जाती है। भारत जैसे देश में, जो बहुत समय तक एक उपनिवेश रहा है, कई रूढ़िबद्ध विचार औपनिवेशिक देन हैं। कुछ समुदायों को 'वीर प्रजाति' की संज्ञा दी गई तो कुछ को कायर या पौरुषहीन और कुछ को दगाबाज़ कहा गया। अंग्रेज़ी व भारतीय भाषाओं की कथाओं में हम कई बार पाते हैं कि किसी पूरे के पूरे समुदाय को 'आलसी' या 'चालाक' कहा जाता है। यह सही है कि कुछ व्यक्ति किसी समय आलसी या चालाक, बहादुर या कायर हो सकते हैं। किंतु ऐसा सामान्य कथन सभी समूह के कुछ व्यक्तियों के बारे में सच हो सकता है; पूरे समुदाय के लिए नहीं। लेकिन ऐसे व्यक्तियों के बारे में भी यह हमेशा सच नहीं होता-वही व्यक्ति भिन्न समयों पर आलसी और परिश्रमी

क्रियाकलाप 5.2

- फ़िल्मों तथा उपन्यासों से पूर्वाग्रह से ग्रस्त व्यवहार के उदाहरण एकत्रित करें।
- स्वयं तथा अपने सहपाठियों द्वारा एकत्रित किए गए उदाहरणों पर चर्चा करें। एक सामाजिक समूह को जिस प्रकार से चित्रित किया है उससे पूर्वाग्रह कैसे प्रदर्शित होते हैं? हम यह निर्णय कैसे करें कि एक चित्रण पूर्वाग्रहित है अथवा नहीं?
- क्या आप नियोजित पूर्वाग्रह अर्थात् जानबूझकर ऐसा करना–जैसे एक फिल्मकार या लेखक पूर्वाग्रह दिखाना चाहता था और जानबूझकर ना किए गए पूर्वाग्रहों में अंतर कर सकते हैं ?

हो सकते हैं। रूढ़िबद्ध धारणा पूरे समूह को एक समान श्रेणी में स्थापित कर देती है और इस धारणा के अंतर्गत व्यक्तिगत, समयानुसार या परिस्थितिजन्य भिन्नता को भी नकार दिया जाता है। इसके अनुसार पूरे समुदाय को एकल व्यक्ति के रूप में देखा जाता है, मानो उसमें एक ही विशेषता या लक्षण हो।

यदि पूर्वाग्रह मनोवृत्ति और विचारों को दर्शाता है तो भेदभाव दूसरे समूह अथवा व्यक्ति के प्रति किया गया व्यवहार है। भेदभाव को व्यावहारिक रूप में इस प्रकार भी देखा जा सकता है जिसके तहत एक समूह के सदस्य उन अवसरों के लिए अयोग्य करार दिए जाते हैं जो दूसरे के लिए खुले होते हैं जैसे, जब एक व्यक्ति को उसके लिंग अथवा धर्म के आधार पर नौकरी देने से मना कर दिया जाता है। भेदभाव को प्रमाणित करना बहुत कठिन है क्योंकि हो सकता है कि यह न तो खुले तौर पर हो और न ही स्पष्टतया घोषित हो। भेदभावपूर्ण व्यवहार को इस तरह भी प्रदर्शित किया जा सकता है जैसे कि वह दूसरे कारणों द्वारा प्रेरित हो, जो भेदभाव की तुलना में ज़्यादा न्यायसंगत कारण प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति को उसकी जाति के आधार पर नौकरी देने से मना किया गया है उसको कहा जा सकता है कि उसकी योग्यता दूसरों से कम है तथा चयन पूर्ण रूप से योग्यता के आधार पर किया गया है।

सामाजिक अपवर्जन या बहिष्कार

सामाजिक बहिष्कार वह तौर-तरीके हैं जिनके ज़रिए किसी व्यक्ति या समूह को समाज में पूरी तरह घुलने-मिलने से रोका जाता है व अलग या पृथक रखा जाता है। यह उन सभी कारकों पर ध्यान दिलाता है जो व्यक्ति या समूह को उन अवसरों से वंचित करते हैं जो अधिकांश जनसंख्या के लिए खुले होते हैं। भरपूर तथा क्रियाशील जीवन जीने के लिए, व्यक्ति को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं (जैसे, रोटी, कपड़ा तथा मकान) के अलावा अन्य आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं (जैसे, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात के साधन, बीमा, सामाजिक सुरक्षा, बैंक तथा यहाँ तक कि पुलिस एवं न्यायपालिका) की भी ज़रूरत होती है। सामाजिक भेदभाव आकस्मिक या अनायास रूप से नहीं बल्कि व्यवस्थित तरीके से होता है। यह समाज की संरचनात्मक विशेषताओं का परिणाम है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि सामाजिक बहिष्कार अनैच्छिक होता है, अर्थात् बहिष्कार बहिष्कृत लोगों की इच्छाओं के विरुद्ध कार्यान्वित होता है। उदाहरण के लिए, शहरों तथा कस्बों में हम हज़ारों बेघर गरीब लोगों की तरह धनी व्यक्तियों को कभी भी फ़ुटपाथ या पुलों के नीचे सोते हुए नहीं देखते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि धनी व्यक्ति फ़ुटपाथ या पार्कों का प्रयोग करने से 'बहिष्कृत' हैं। यदि वे चाहें तो निश्चित रूप से इनका प्रयोग कर सकते हैं, परंतु वे ऐसा करना नहीं चाहते। सामाजिक भेदभाव को कभी-कभी इस गलत तर्क से न्यायसंगत ठहराया जाता है कि बहिष्कृत समूह स्वयं ही सम्मिलित होने का इच्छुक नहीं है। इस तरह का तर्क इच्छित या चहेती चीज़ों के संदर्भ में सरासर गलत है। (यह उस स्थिति से बिल्कुल अलग है जहाँ अमीर लोग स्वेच्छा से फ़ुटपाथ पर नहीं सोते या बोझा ढोने का काम नहीं करते)।

भेदभाव अथवा अपमानजनक व्यवहार का लंबा अनुभव प्रायः इस तरह की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होता है कि बहिष्कृत व्यक्ति मुख्यधारा में शामिल होने के प्रयास अक्सर बंद कर देते हैं। उदाहरण के लिए, 'उच्च' जातीय हिंदु समुदायों ने अक्सर 'निम्न' जातियों के (विशेष रूप से दलितों के) मंदिर में प्रवेश पर पाबंदी लगाई है। दशकों तक इस तरह के बर्ताव के पश्चात् दलितों ने अपने मंदिर बना लिए या बौद्ध, ईसाई या इस्लाम जैसे अन्य धर्म को अपना लिया। ऐसा करने के बाद वे हिंदु मंदिर में प्रवेश करने या किसी भी धार्मिक उपलक्ष्य में सम्मिलित होने के इच्छुक नहीं होंगे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक बहिष्कार नहीं किया जाता ऐसी स्थिति बहिष्कार व अपमान के लंबे अनुभव से ही उपजती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बहिष्कार बहिष्कृत व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा की तरफ़ ध्यान ही नहीं देता।

अधिकांश समाजों की तरह भारत में भी सामाजिक भेदभाव तथा बहिष्कार चरम रूप में पाया जाता है। इतिहास की विभिन्न अवधियों में जाति, लिंग तथा धार्मिक भेदभाव के विरुद्ध आंदोलन हुए हैं। लेकिन इसके बावजूद पूर्वाग्रह बना रहता है तथा अक्सर नए पूर्वाग्रह उत्पन्न हो जाते हैं। अतः कानून अकेले अपने बूते पर समाज को रूपांतरित करने अथवा स्थायी सामाजिक परिवर्तन लाने में असमर्थ है। यह सब समाप्त करने के लिए परिवर्तन, जागरुकता एवं संवेदनशीलता के साथ एक सतत सामाजिक अभियान की आवश्यकता है।

आप भारतीय समाज पर उपनिवेशवाद के प्रभाव के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। भेदभाव तथा बहिष्कार का क्या अर्थ है? यह विशेषाधिकार प्राप्त भारतीयों को तब समझ आया जब वे ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्यों के हाथों इसका शिकार हुए। इस प्रकार के अनुभव, निःसंदेह विभिन्न सामाजिक भेदभावग्रस्त समूहों (जैसे, महिलाएँ, दलितों तथा अन्य उत्पीड़ित जातियों एवं जनजातियों) के लिए सामान्य थे। लेकिन उपनिवेशवाद ने अभिजात्य वर्ग को भी भेदभाव से अवगत कराया। औपनिवेशिक शासन के अपमानजनक व्यवहार का सामना करने के साथ-साथ लोकतंत्र तथा न्याय के विचारों से परिचित होने से भारतीयों ने बहुत से समाज सुधार आंदोलनों को प्रारंभ किया एवं उनमें सम्मिलित हुए।

इस अध्याय में हम ऐसे चार समूहों पर प्रकाश डालेंगे जो गंभीर सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के शिकार रहे हैं, मुख्यतः दलित या पूर्व-अछूत जातियाँ, आदिवासी अथवा वह समुदाय जिन्हें 'जनजाति' माना जाता है, महिलाएँ तथा अन्यथा सक्षम लोग। निम्नलिखित भागों में हम प्रत्येक के संघर्ष एवं उपलब्धि की कहानी पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

5.2 जाति और जनजाति : दो व्यवस्थाएँ जो विषमता को कायम रखती है एवं न्यायसंगत सिद्ध करती है

जाति : एक भेदभावपूर्ण व्यवस्था

जाति व्यवस्था एक विशिष्ट भारतीय सामाजिक संस्था है जो विशेष जातियों में पैदा हुए व्यक्तियों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण व्यवहार को लागू करती है एवं न्यायसंगत ठहराती है। भेदभाव के यह व्यवहार अपमानजनक, बहिष्कारी तथा शोषणकारी हैं।

ऐतिहासिक रूप से, जाति व्यवस्था व्यक्तियों का उनके व्यवसाय तथा प्रस्थिति के आधार पर वर्गीकरण करती थी। प्रत्येक जाति एक व्यवसाय से जुड़ी थी; इसका तात्पर्य है कि एक विशेष जाति में जन्मा व्यक्ति उस व्यवसाय में भी 'जन्म लेता' था जो उसकी जाति से जुड़ा था-उसके पास कोई विकल्प नहीं था। इसके अतिरिक्त, शायद इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक जाति का सामाजिक प्रस्थिति या हैसियत के अधिक्रम में एक विशेष स्थान भी होता था। अत: मोटेतौर पर कहा जा सकता है कि सिर्फ़ सामाजिक प्रस्थिति के अनुसार ही व्यावसायिक श्रेणियाँ श्रेणीबद्ध नहीं थीं, बल्कि प्रत्येक बृहत व्यावसायिक श्रेणी के अंदर पुन: श्रेणीक्रम था। धर्मग्रंथ के सख्त नियमों के अनुसार, सामाजिक तथा आर्थिक प्रस्थिति को निश्चित रूप से अलग रखा जाता था। उदाहरण के लिए, आनुष्ठानिक रूप से सबसे ऊँची जाति, ब्राह्मण को धन संचय की अनुमति नहीं थी, ब्राह्मण धार्मिक या (पारलौकिक) क्षेत्र में सर्वोपरि होने के बावजूद क्षत्रीय राजाओं की इह-लौकिक (या धर्म से परे) शक्ति के अधीन होते थे। दूसरी तरफ़, उच्चतम चिरकालिक प्रस्थिति एवं शक्ति के बावजूद, राजा आनुष्ठानिक-धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के अधीन होते थे। (इसकी तुलना बॉक्स 5.1 में दिए गए 'रंगभेद' व्यवस्था के वर्णन से कीजिए)।

हालाँकि वास्तविक ऐतिहासिक व्यवहार में सामाजिक तथा आर्थिक प्रस्थिति एक दूसरे के अनुरूप होती थी। अत: स्पष्टतया सामाजिक (जैसे, जाति) तथा आर्थिक हैसियत में घनिष्ठ संबंध था-'उच्च' जातियाँ प्राय: निर्विवाद रूप से उच्च आर्थिक प्रस्थिति की थीं, जबकि 'निम्न' जातियाँ प्राय: निम्न आर्थिक स्थिति की होती थीं। आधुनिक काल में, विशेष रूप से 19वीं सदी से, जाति तथा व्यवसाय के बीच के संबंध काफ़ी ढीले हुए हैं। व्यावसायिक परिवर्तन संबंधित आनुष्ठानिक-धार्मिक प्रतिबंध आज उतनी आसानी से नहीं लागू किए जा सकते हैं, तथा पहले की अपेक्षा अब व्यवसाय परिवर्तन आसान हो गया है। इसके अतिरिक्त, सौ या पचास वर्ष पहले की तुलना में, जाति तथा आर्थिक स्थिति के सहसंबंध कमजोर हुए हैं। आज अमीर तथा गरीब लोग हर जाति में पाए जाते हैं। लेकिन मुख्य बात यह है कि जाति-वर्ग का परस्पर संबंध वृहत स्तर पर अभी भी पूरी तरह कायम है। व्यवस्था के थोड़ा कम सख्त होने पर मोटेतौर पर समान सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति वाली जातियों के बीच का फासला कम हुआ है। परंतु विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूहों के बीच जातीय अंतर अभी भी बना हुआ है।

यद्यपि समाज निश्चित रूप से बदला है, लेकिन व्यापक स्तर पर बहुत ज़्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है। यह आज भी सच है कि समाज का साधन-संपन्न व ऊँचे ओहदे वाले वर्ग में अत्यधिक कथित 'उच्च' जाति के लोग हैं। जबकि वंचित (तथा निम्न आर्थिक स्थिति वाले) वर्ग में कथित 'निम्न' जातियों की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त, कथित 'ऊँची' व 'नीची' जातियों के गरीब और संपन्न तबकों के अनुपात में ज़मीन-आसमान का फर्क है। (तालिका 1 और 2 देखें)। संक्षेप में कहें तो यह सच है कि एक सदी से चल रहे सामाजिक आंदोलनों ने कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए, उत्पादन व्यवस्था में भारी बदलाव आए, तथा साथ ही स्वतंत्र भारत की राजसत्ता ने सार्वजनिक क्षेत्र में जाति पर अंकुश लगाने की भरपूर कोशिश की। लेकिन इन परस्पर प्रयत्नों के बावजूद 21वीं सदी में भी जाति भारतीयों के जीवन अवसरों को सतत प्रभावित कर रही है।

बॉक्स 5.1

प्रजाति और जाति – एक अंतः सांस्कृतिक तुलना

भारत की जाति प्रथा की तरह दक्षिण अफ्रीका में प्रजाति के आधार पर समाज को श्रेणीबद्ध किया गया है। लगभग हर सात दक्षिण अफ्रीकी व्यक्ति में से एक यूरोपीय वंश का है, फिर भी दक्षिण अफ्रीका के अल्पसंख्यक श्वेतों का वहाँ की शक्ति एवं संपदा पर प्रबल अधिकार है। डच व्यापारी 17 वीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण अफ्रीका में बस गए, 19वीं शताब्दी के शुरू में उनके वंशजों को ब्रिटिश उपनिवेशकों द्वारा भीतरी प्रदेशों में खदेड़ दिया गया था। बीसवीं सदी की शुरुआत में ब्रिटिश ने पहले संघ का तथा बाद में दक्षिण अफ्रीकी गणराज्य पर नियंत्रण कर लिया।

अपने राजनीतिक नियंत्रण को सुनिश्चित करने के लिए अल्पसंख्यक श्वेतों ने **रंगभेद** अथवा प्रजाति के पृथक्करण की नीति को विकसित किया। यह कई वर्षों तक अनौपचारिक व्यवहार में रहा। बाद में 1948 में इसको कानूनी मान्यता दी गई तथा बहुसंख्यक दक्षिण अफ्रीकी अश्वेतों को वहाँ की नागरिकता, ज़मीन के स्वामित्व से तथा सरकार में शामिल होने के औपचारिक अधिकार से वंचित कर दिया गया। प्रत्येक व्यक्ति का प्रजाति के आधार पर वर्गीकरण किया गया तथा मिश्रित विवाह पर पाबंदी लगा दी गई। एक प्रजातीय जाति के रूप में अश्वेतों के पास कम आय वाली नौकरियाँ थीं, सामान्य तौर पर श्वेतों द्वारा प्राप्त आय की तुलना में उनकी आय सिर्फ एक चौथाई थी। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लाखों अश्वेतों को 'बांटुस्तान' या 'गृहक्षेत्रों' में बलपूर्वक पुनः स्थापित किया गया जो गंदगी से भरा गरीब क्षेत्र था, जहाँ आधारभूत संरचना, उद्योग तथा नौकरी बिल्कुल नहीं थी। यह सभी गृहक्षेत्र एक साथ मिलकर पूरे दक्षिण अफ्रीका की सिर्फ 14 प्रतिशत जमीन का हिस्सा थे, जबकि अश्वेत पूरे देश की जनसंख्या के अनुपात में 80 प्रतिशत थे। परिणामतः तीव्र भुखमरी तथा परेशानियाँ व्यापक रूप में फैल गयीं। संक्षेप में, उस देश में विपुल प्राकृतिक संसाधनों तथा हीरों, मूल्यवान खनिज पदार्थों के होते हुए भी अधिकांश लोग घोर गरीबी में जीवन जी रहे थे।

समृद्ध अल्पसंख्यक श्वेतों ने अपने विशेषाधिकार का बचाव अश्वेतों को सामाजिक रूप से निम्न घोषित करते हुए किया। फिर भी वे अपने शासन को बनाए रखने के लिए सैन्य शक्तिशाली व्यवस्था पर आश्रित थे। अश्वेत विद्रोहियों को नित्य-प्रतिदिन जेल में डाला जाता था और प्रताड़ित किया जाता था तथा उनकी हत्या की जाती थी। शासकीय आतंक के बावजूद अश्वेतों ने दशकों तक एकजुट होकर अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस तथा नेल्सन मंडेला के नेतृत्व में संघर्ष किया तथा अंततोगत्वा वे सत्ता में आने में सफल हुए तथा 1994 में सरकार बनाई। यद्यपि उत्तर रंगभेदी दक्षिण अफ्रीकी संविधान ने प्रजातीय भेदभाव पर प्रतिबंध लगाया है, तथापि आर्थिक पूँजी अभी भी श्वेत लोगों के हाथ में केंद्रित है। बहुसंख्यक अश्वेतों का सशक्तीकरण करना नए समाज को निरंतर चुनौती प्रस्तुत करता है।

"मैंने श्वेतों के प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष किया है तथा मैंने अश्वेतों के प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष किया है। मैंने प्रजातंत्र के आदर्श तथा एक आज़ाद समाज का सपना सँजोया है जहाँ सभी लोग एक दूसरे से सामंजस्य स्थापित करते हुए एक समान अवसर का उपयोग करते हुए रहेंगे। यह एक आदर्श है जिसको पाने की तथा जिसके लिए जीने की मैं आशा करता हूँ। परंतु यदि आवश्यकता हुई तो इस आदर्श की खातिर मैं मरने के लिए भी तैयार हूँ।"

नेल्सन मंडेला, 20 अप्रैल 1964, रिवोनिया जाँच के दौरान

सारणी 1 : गरीबी रेखा से नीचे की जनसंख्या का प्रतिशत, 1999-2000

जाति एवं समुदाय समूह	ग्रामीण भारत	नगरीय भारत
	327 रु. या कम प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय	454 रु. या कम प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय
अनुसूचित जनजातियाँ	45.8	35.6
अनुसूचित जातियाँ	35.9	38.3
अन्य पिछड़े वर्ग	27.0	29.5
उच्च जाति मुसलमान	26.8	34.2
उच्च जाति हिंदू	11.7	9.9
उच्च जाति ईसाई	9.6	5.4
उच्च जाति सिख	0.0	4.9
अन्य उच्च जातियाँ	16.0	2.7
सभी समूह	27.0	23.4

नोट: 'उच्च जातियाँ' अर्थात् अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति/अन्य पिछड़ा वर्ग नहीं।

स्रोत: एन. एस. एस. ओ. 55वें चक्र (1999-2000) इकाई स्तर के आँकड़े सी. डी. पर उपलब्ध

सारणी 2 : समृद्ध जनसंख्या का प्रतिशत, 1999-2000

जाति एवं समुदाय समूह	ग्रामीण भारत	नगरीय भारत
	1000 रु. या अधिक प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय	2000 रु. या अधिक प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय
अनुसूचित जनजातियाँ	1.4	1.8
अनुसूचित जातियाँ	1.7	0.8
अन्य पिछड़े वर्ग	3.3	2.0
उच्च जाति मुसलमान	2.0	1.6
उच्च जाति हिंदू	8.6	8.2
उच्च जाति ईसाई	18.9	17.0
उच्च जाति सिख	31.7	15.1
अन्य उच्च जातियाँ	17.9	14.4
सभी समूह	4.3	4.5

नोट: 'उच्च जातियाँ' अर्थात् अनुसूचित जातियाँ/अनुसूचित जनजातियाँ/अन्य पिछड़ा वर्ग नहीं

स्रोत: एन. एस. एस. ओ. 55वें चक्र (1999-2000) इकाई स्तर के आँकड़े सी. डी. पर उपलब्ध

सारणी 1 तथा 2 के लिए अभ्यास

सारणी 1, 1999-2000 की जनसंख्या में शासकीय 'गरीबी की रेखा' से नीचे रहने वाले प्रत्येक जाति एवं समुदाय का प्रतिशत दर्शाती है। ग्रामीण एवं नगरीय भारत के लिए भिन्न-भिन्न कॉलम हैं।

सारणी 2 भी उसी प्रकार बनाई गई है सिवाय इसके कि इसमें गरीबी रेखा के बजाय अमीर लोगों का प्रतिशत दर्शाया गया है। 'अमीरी' को ग्रामीण भारत में एक हज़ार रु. प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय एवं नगरीय भारत में दो हज़ार रु. प्रति व्यक्ति प्रति माह व्यय के रूप में परिभाषित किया गया है। यह ग्रामीण भारत में पाँच व्यक्तियों के परिवार के द्वारा पाँच हजार रु. प्रति माह व्यय तथा नगरीय भारत में दस हज़ार रु. प्रति माह के बराबर है। निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देने से पहले कृपया इन तालिकाओं को ध्यान से पढ़ें।

1. भारतीय जनसंख्या के कितने प्रतिशत लोग गरीबी रेखा के नीचे (क) ग्रामीण भारत में और (ख) नगरीय भारत में रहते हैं?
2. किस जाति/समुदाय समूह के ज़्यादातर लोग (क) ग्रामीण तथा (ख) नगरीय भारत में अत्यधिक गरीबी में ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं? किस जाति/समुदाय के सबसे कम प्रतिशत लोग गरीबी में जीते हैं?
3. प्रत्येक निम्न जाति (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग) का गरीबी का प्रतिशत राष्ट्रीय सामान्य प्रतिशत से लगभग कितने गुना अधिक है? क्या इसमें कोई महत्त्वपूर्ण ग्रामीण-नगरीय विभिन्नता है?
4. ग्रामीण एवं नगरीय भारत की जनसंख्या में किस जाति/समुदाय के लोगों का अमीरी में सबसे कम प्रतिशत है? राष्ट्रीय सामान्य अनुपात से इसकी तुलना कैसे की जा सकती है?
5. 'उच्च' हिंदू जाति की अमीर जनसंख्या का प्रतिशत 'निम्न' जाति (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्ग) के प्रतिशत से लगभग कितना गुना ज़्यादा है?
6. यह सारणियाँ आपको अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति के बारे में क्या बतलाती हैं? क्या इनमें कोई महत्त्वपूर्ण ग्रामीण-नगरीय विभिन्नता है?

अस्पृश्यता

'अस्पृश्यता' जिसे आम बोलचाल में 'छुआछूत' कहा जाता है, जाति-व्यवस्था का एक अत्यंत घृणित एवं दूषित पहलू है, जो धार्मिक एवं कर्मकांडीय दृष्टि से शुद्धता एवं अशुद्धता के पैमाने पर सबसे नीची मानी जाने वाली जातियों के सदस्यों के विरुद्ध अत्यंत कठोर सामाजिक अनुशास्त्रियों (दंडों) का विधान करता है। सच पूछिए तो 'अस्पृश्य' यानी अछूत मानी जाने वाली जातियों का जाति सोपान या अधिक्रम में कोई स्थान ही नहीं है, वे तो इस व्यवस्था से बाहर हैं। उन्हें तो इतना अधिक 'अशुद्ध' एवं अपवित्र माना जाता है कि उनके ज़रा छू जाने भर से ही अन्य सभी जातियों के सदस्य अत्यंत अशुद्ध हो जाते हैं, जिसके कारण अछूत कहे जाने वाले व्यक्ति को तो अत्यधिक कठोर दंड भुगतना पड़ता ही है, साथ ही उच्च जाति का जो व्यक्ति छुआ गया है उसे भी फिर से शुद्ध होने के लिए कई शुद्धीकरण क्रियाएँ करनी होती हैं। सच तो यह है कि भारत के कई क्षेत्रों (विशेष रूप से दक्षिण भारत) में 'दूर से अशुद्धता' की धारणा विद्यमान थी जिसके अनुसार 'अछूत' समझे जाने वाले व्यक्ति की उपस्थिति अथवा छाया ही अशुद्ध समझी जाती थी। इस शब्द का आक्षरिक अर्थ सीमित होने के बावजूद, 'अस्पृश्यता' की संस्था शारीरिक संपर्क

से बचने या अछूत से दूर रहने का आदेश तो देती ही है, साथ ही तथाकथित अछूत के लिए कई सामाजिक अनुशास्त्रियों की व्यवस्था भी करती है।

यहाँ यह बता देना महत्त्वपूर्ण है कि अस्पृश्यता के तीन मुख्य आयाम हैं, अपवर्जन या बहिष्कार, अनादर एवं अधीनता और शोषण। इस प्रघटना को परिभाषित करने के लिए ये तीनों आयाम समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि अन्य (यानी 'स्पृश्य' मानी जाने वाली) नीची जातियों को भी कुछ हद तक अधीनता और शोषण का सामना करना पड़ता है, लेकिन उन्हें बहिष्कार का उतना चरम रूप नहीं सहना

बॉक्स 5.2

एक दलित सफाई करने वाले की रोज़ाना अग्निपरीक्षा

भारत में हाथ से मैला उठाने वाले लोगों की संख्या लगभग 80 लाख है। नारायणम्मा भी उनमें से एक है। वह आंध्र प्रदेश में अनंतपुर नगरपालिका के 400 सीटों वाले सार्वजनिक शौचालय को साफ़ करती हैं। थोड़ी-थोड़ी देर बाद, जब शौचालय का इस्तेमाल करने वाली औरतें बाहर आ जाती हैं तो नारायणम्मा और उनकी साथिनों को भीतर बुलाया जाता है। शौचालय सूखा है, उसमें मल बहाने के लिए फ्लश नहीं है। मल हर सीट के नीचे इकट्ठा होता रहता है या बहकर खुले नाले में चला जाता है। यह नारायणम्मा का काम है कि वह एक चपटी, टीन की तश्तरी में अपनी झाड़ू की सहायता से मल को इकट्ठा कर अपनी टोकरी में डाल लें। जब टोकरी भर जाती है तो वह उसे सिर पर उठाकर एक ट्रैक्टर-ट्रॉली में डाल आती हैं जो आधा किलोमीटर की दूरी पर खड़ा होकर उनका इंतजार करता रहता है और फिर वह वापस आकर शौचालय से आने वाली अगली पुकार के लिए इंतजार करने लगती हैं। यह क्रम सवेरे लगभग दस बजे तक चलता रहता है, जब अंत में नारायणम्मा धो-पोंछकर वापस अपने घर को चल पड़ती हैं।

'अरी म्युनिसिपैलिटी, जरा आओ, इसे साफ करो'-नारायणम्मा और उनकी साथिनों को अधिकतर लोग इन्हीं शब्दों में पुकारते हैं जब वे सड़क पर जा रही होती हैं।

यह ऐसा है, जैसे हमारा तो कोई नाम ही नहीं है, वह कहती हैं। और अक्सर जब हम लोगों के पास से गुजरते हैं तो वे अपनी नाक कपड़े से ढक लेते हैं मानो हममें से बदबू आ रही हो। जब हम नगरपालिका के नल या हैंडपंप से पानी लेने जाती हैं तो हमें औरों द्वारा पानी का नलका चालू करने या हैंडपंप चलाने का इंतजार करना पड़ता है ताकि हमारे छूने से नल या पंप अपवित्र न हो जाए। चाय की दुकानों में हम औरों के साथ बैंच पर नहीं बैठ सकते; हम फर्श पर बैठते हैं। अभी कुछ समय पहले तक, हमारे लिए अलग टूटे हुए प्याले होते थे, जिन्हें हम खुद धोया करते थे और ये प्याले हमारे इस्तेमाल के लिए ही अलग रखे जाते थे। यह रिवाज आज भी अनंतपुर के आसपास के गाँवों में और राज्य के अन्य भागों में भी चल रहा है।

स्रोतः हर्ष मंदर, 2001:38-39 से यथोचित परिवर्तन के साथ उद्धृत

पड़ता जो कि 'अछूतों' के लिए आरक्षित है। दलितों को तो बहिष्कार के इतने भयंकर रूप भुगतने पड़ते हैं जो और समूहों को नहीं सहने पड़ते। उदाहरण के लिए, उन्हें पेयजल के सामान्य स्रोतों से पानी नहीं लेने दिया जाता, उनके कुएँ, हैंडपंप, घाट आदि अलग होते हैं; वे सामूहिक धार्मिक पूजा-आराधना, सामाजिक समारोहों और त्योहारों-उत्सवों में भाग नहीं ले सकते। साथ ही, उनसे अनेक छोटे काम ज़ोर-ज़बरदस्ती से कराए जाते हैं जैसे, किसी धार्मिक उत्सव पर ढोल-नगाड़े बजाना। अनादर और अधीनतासूचक अनेक कार्य सार्वजनिक रूप से कराना अस्पृश्यता की प्रथा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उन्हें तथाकथित ऊँची जातियों के लोगों के प्रति ज़बरदस्ती सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अनिच्छापूर्वक कई व्यवहार करने पड़ते हैं जैसे, टोपी या पगड़ी उतारना, पहने हुए जूतों को उतारकर हाथ में पकड़कर ले जाना, सिर झुकाकर खड़े रहना; एकदम साफ़ या चमचमाते हुए कपड़े नहीं पहनना आदि-आदि। इसके

अलावा, अपशब्द सुनना और अपमान सहना तो उनका रोज़मर्रा का काम है। इसके अतिरिक्त तरह-तरह का आर्थिक शोषण तो मानो इस अस्पृश्यता की कुरीति के साथ सदा से ही जुड़ा है। उन्हें आमतौर पर 'बेगार' करनी पड़ती है जिसके लिए उन्हें कोई पैसा नहीं दिया जाता या बहुत कम मज़दूरी दी जाती है। कभी-कभी तो उनकी संपत्ति छीन ली जाती है। संक्षेप में, अस्पृश्यता एक अखिल भारतीय प्रघटना है, हालाँकि उसके विशिष्ट रूपों एवं गहनताओं में विभिन्न क्षेत्रों तथा सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों में काफ़ी अधिक अंतर होता है।

इन तथाकथित 'अस्पृश्यों' को पिछली अनेक शताब्दियों से सामूहिक रूप से भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता रहा है इन नामों की अपनी व्युत्पत्ति कुछ भी हो, और इनका मूल अर्थ चाहे कुछ भी रहा हो पर अब वे सब अत्यंत अपमानसूचक एवं निंदात्मक हैं। सच तो यह है कि उनमें से अनेक शब्द तो आज भी गाली के तौर पर इस्तेमाल किए जाते हैं हालाँकि, आज उनका प्रयोग एक दंडनीय अपराध माना जाता है। महात्मा गाँधी ने इन जाति नामों के निंदात्मक आरोप को दूर करने के लिए, 1930 के दशक में उन्हें 'हरिजन' (जिसका शाब्दिक अर्थ 'परमात्मा के बच्चे' हैं) कहकर पुकारना शुरू किया; यह काफ़ी लोकप्रिय हुआ।

किंतु, भूतपूर्व अस्पृश्य समुदायों और उनके नेताओं ने एक दूसरा शब्द 'दलित' गढ़ा, जो इन सभी समूहों का उल्लेख करने के लिए अब आमतौर पर स्वीकार कर लिया गया है। भारतीय भाषाओं में, दलित शब्द का आक्षरिक अर्थ है 'पैरों से कुचला हुआ' और यह उत्पीड़ित लोगों का द्योतक है। यह शब्द न तो डॉक्टर अंबेडकर द्वारा गढ़ा गया था और न ही अक्सर उनके द्वारा इसका प्रयोग किया गया था, पर इसमें उनका चिंतन तथा दर्शन एवं उनके उस आंदोलन का मूल भाव निश्चित रूप से गुंजायमान है जो उनके नेतृत्व में दलितों को सशक्त बनाने के लिए चलाया गया था। 1970 के दशक में मुंबई में हुए जातीय दंगों के दौरान इस शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक रूप से किया गया। उस समय पश्चिमी भारत में 'दलित पैंथर्स' नाम का जो उग्र समूह उभरा, उसने अपने अधिकारों तथा मान-मर्यादा के लिए चलाए गए संघर्ष के अंतर्गत अपनी अलग पहचान बनाने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया।

जातियों और जनजातियों के प्रति भेदभाव मिटाने के लिए राज्य और अन्य संगठनों द्वारा उठाए गए कदम

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले से ही भारतीय राज्य यानी भारत सरकार अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों के लिए अनेक विशेष कार्यक्रम चलाती रही है। ब्रिटिश भारत की सरकार ने 1935 में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की 'अनुसूचियाँ' तैयार की थीं जिनमें उन जातियों तथा जनजातियों के नाम दिए गए थे जिन्हें उनके विरुद्ध बड़े पैमाने पर बरते जा रहे भेदभाव के कारण विशेष बर्ताव का पात्र माना गया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, उन नीतियों को तो जारी रखा ही गया, उनमें कई नई नीतियाँ भी जोड़ दी गईं। इनमें सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन यह किया गया कि 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों से 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए भी कुछ विशेष कार्यक्रम जोड़ दिए गए हैं।

पुराने और वर्तमान जातीय भेदभाव को दूर करने और उससे हुई क्षति की पूर्ति करने के लिए राज्य की ओर से जो सबसे महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया है उसे आम लोगों में 'आरक्षण' के नाम से जाना जाता है। इसके अंतर्गत, सार्वजनिक जीवन के विभिन्न पक्षों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों के लिए कुछ स्थान या सीटें अलग निर्धारित कर दी जाती हैं। इन आरक्षणों में अनेक किस्म के आरक्षण शामिल हैं जैसे, राज्य और केंद्रीय विधानमंडलों (यानी राज्य विधानसभाओं, लोकसभा और राज्यसभा) में

सीटों का आरक्षण; सभी विभागों और सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों के अंतर्गत सरकारी सेवा में नौकरियों का आरक्षण; शैक्षिक संस्थाओं में सीटों का आरक्षण। आरक्षित सीटों का अनुपात समस्त जनसंख्या में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के प्रतिशतांश के बराबर होता है। लेकिन अन्य पिछड़े वर्गों के लिए यह अनुपात अलग आधार पर निश्चित किया गया है। इसी सिद्धांत को सरकार के अन्य विकास कार्यक्रमों पर भी लागू किया गया है; उनमें से कुछ तो विशेष रूप से अनुसूचित जातियों या जनजातियों के लिए हैं, जबकि कुछ अन्य कार्यक्रमों में उन्हें अधिमान्यता या वरीयता दी जाती है।

आरक्षण के अतिरिक्त, और भी बहुत से कानून हैं जो जातीय भेदभाव विशेष रूप से अस्पृश्यता को खत्म करने, रोकने अथवा उसके लिए दंड देने के लिए बनाए गए हैं। ऐसे शुरुआती कानूनों में एक था 1850 का जातीय निर्योग्यता निवारण अधिनियम जिसमें यह व्यवस्था की गई थी कि केवल धर्म या जाति के परिवर्तन के कारण ही नागरिकों के अधिकारों को कम नहीं किया जाएगा। ऐसा ही सबसे हाल का कानून था, 2005 का संविधान संशोधन (तिरानवेवाँ संशोधन) अधिनियम, जो 23 जनवरी 2006 को कानून बना। संयोगवश, 1850 का कानून और 2006 का संशोधन दोनों ही शिक्षा से संबंधित थे। 93वाँ संशोधन उच्चतर शिक्षा की संस्थाओं में अन्य पिछड़े वर्गों

क्रियाकलाप 5.3

भारत के संविधान की एक प्रति प्राप्त करें। आप इसे अपने विद्यालय के पुस्तकालय या किसी किताबों की दुकान अथवा इंटरनेट से प्राप्त कर सकते हैं। (वेबसाइट: http://indiacode.nic.in/)
इसमें आप उन सभी अनुच्छेदों एवं अनुभागों को खोजकर उनकी सूची बनाएँ जो अनुसूचित जातियों और जनजातियों अथवा जाति संबंधी किसी समस्या, जैसे अस्पृश्यता आदि के बारे में हैं। आप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधियों (कानूनों) का एक चार्ट बनाकर अपनी कक्षा में टाँग सकते हैं।

बॉक्स 5.3

दलित प्रतिरोध का समकालीन उदाहरण

गोहाना हरियाणा में सोनीपत–रोहतक राजमार्ग पर एक छोटा, गर्दीला कस्बा है जहाँ प्रगति का आश्वासन देने वाले बड़े-बड़े विज्ञापन-पट्ट लगे हुए हैं...। कस्बे के चौक से आगे बढ़ने पर गोहाना की सबसे बड़ी दलित बस्ती, 'वाल्मीकि कॉलोनी' आती है जो अब राख के ढेर से उभरी है। 31 अगस्त 2005 के दिन इस दलित बस्ती को जाट लोगों की एक भीड़ ने लूटपाटकर जला डाला था। कारण यह था कि दलित युवकों के साथ हुए एक झगड़े में एक जाट युवक मारा गया था। इस कत्ल के हादसे के बाद दलित लोग वहाँ से भाग गए थे, उन्हें जाटों के हमले का डर था; वहाँ की गश्ती पुलिस ने जाटों की भीड़ को न रोकना ही ठीक समझा परिणामस्वरूप दलितों के 54 घर जला डाले गए। "इस आगजनी के जरिये जाट, दलितों को सबक सिखाना चाहते थे", विनोद कुमार ने कहा, उनका घर भी जला दिया गया था। "पुलिस, प्रशासन और सरकार में जाटों का बोलबाला है; वे तो बस तमाशबीन की तरह हमारे घरों को जलता हुआ देखते रहे।"

पाँच महीने बाद, जलाए गए घर फिर से बना दिए गए हैं। उनके आगे के भाग को चमकदार गुलाबी, लाल और हरे रंगों से पोत दिया गया है। प्रत्येक घर के दरवाजे पर वाल्मीकि की तस्वीरों के साथ संगमरमर की टाइलें सजा दी गई हैं जो वहाँ के निवासियों की दलित पहचान को उजागर करती है। "हमें वापस तो आना ही था। यह हमारा घर है", कुमार ने कहा, वह अपने नीले पुते हुए घर की बैठक में नए खरीदे गए सोफ़े पर बैठे थे। कुमार गोहाना के दलितों की हिम्मत का प्रतीक है। उनकी उम्र 30–32 साल है। वह झाड़ू लगाने का काम नहीं करते जो जाति समाज ने उन्हें करने के लिए कहा था; वह एक बीमा कंपनी में वरिष्ठ सहायक हैं। अधिकांश दलितों ने शिक्षा को अपना लिया है। वे जाति व्यवस्था की नियंत्रण की रेखा को पार कर गए हैं। "हममें से बहुतों ने मास्टर डिग्री हासिल कर ली है और वे सरकारी और गैर-सरकारी नौकरियाँ कर रहे हैं। हमारे अधिकतर लड़के स्कूल जाते हैं और लड़कियाँ भी स्कूल जाती हैं"। कुमार ने कहा। [...]

वाल्मीकि कॉलोनी के युवा लोग अब पुराने ढंग के, दबे हुए, तकलीफ़ें सहने वाले दलित नहीं रहे जैसा

लोग परंपरागत रूप से सोचते होंगे। नाइकी जूते और रैंगलर जींस की नकल कर बनाए गए जूतों और जींस में सजे इन युवाओं के हाव-भाव से उद्धत, विद्रोही व्यवहार झलकता है। किंतु, हरियाणा के भूमिहीन दलितों में से अधिकांश के लिए समाज में ऊपर की ओर बढ़ना अभी कठिन बना हुआ है। "अधिकांश लड़के हाई-स्कूल के बाद पढ़ाई छोड़ देते हैं क्योंकि वे बहुत गरीब हैं", सुदेश कटारिया ने कहा, जो कि एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में सहायक इंजीनियर के पद पर कार्यरत हैं। उन्होंने गुड़गाँव के औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान से विद्युत इंजीनियरी में डिप्लोमा प्राप्त किया है। उनके एक घनिष्ठ मित्र ने, जो जाति से जाट था एवं वह भी समान संस्थान से डिप्लोमाधारी था, उन्हें अपने परिवार की एक शादी के समारोह में आमंत्रित किया लेकिन साथ ही यह भी आग्रह किया कि वह अपनी जातीय पहचान न बताए। "विवाह समारोह में एक मेहमान ने मेरी जाति के बारे में पूछा तो मैंने झूठ बोल दिया। फिर उसने मेरे गाँव का नाम पूछा और मैंने सही-सही बतला दिया। वह जानता था कि मेरा गाँव दलितों का है।" घरवालों और मेहमानों के बीच झगड़ा छिड़ गया, उन्होंने एक दलित को भीतर कैसे आने दिया? "उन्होंने धक्के मारकर मुझे बाहर निकाल दिया और मैं जिस कुर्सी पर बैठा था उसे धोया," कटारिया ने पुराना किस्सा सुनाया।

कटारिया दलितों के लिए नई ज़िंदगी चाहते हैं: वे अन्य पढ़े-लिखे दलितों के साथ मिलकर गुड़गाँव के गाँवों में अभियान चलाते हैं। "हमारे लोग जागृत, प्रबल और सशक्त होंगे। हमें एकजुट होने की ज़रूरत है और जब एक बार हम एकजुट हो जाएंगे तो अच्छी तरह मुकाबला कर सकेंगे, तब गोहाना या झज्जर जैसे कांड और नहीं होंगे और न ही कोई ऐसी दुर्घटना"।

स्रोत: 18 फ़रवरी 2006 के 'तहलका' में प्रकाशित बशारत पीर के एक लेख से यथोचित परिवर्तनों के साथ उद्धृत

बॉक्स 5.4

शहर
दया पवार

एक दिन किसी ने बीसवीं सदी के एक शहर को खोदा और आलोकन किया।
एक दिलचस्प शिलालेख विवरण इस प्रकार था:
"यह पानी का नलका सभी जातियों और धर्मों के लिए खुला है"।
इसका क्या मतलब रहा होगा:
यही न कि यह समाज बँटा हुआ था?
उनमें से कुछ की स्थिति ऊँची थी और बाकी की नीची?
ठीक है, फिर तो यह शहर दफन होने लायक ही था–
तो फिर लोग इसे मशीन युग क्यों कहते हैं?
यह तो बीसवीं सदी का 'पाषाण युग' प्रतीत होता है।

के लिए आरक्षण लागू करने के लिए था जबकि 1850 का अधिनियम सरकारी स्कूलों में दलितों को भर्ती करने की इजाज़त देने के लिए बनाया गया था। इन दोनों के बीच और अनेक कानून बनाए गए जिनमें वस्तुत: सबसे महत्त्वपूर्ण थे 'भारत का संविधान' जो 1950 में पारित किया गया था और 1989 का अनुसूचित जाति और जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम। संविधान ने अस्पृश्यता का उन्मूलन (अनुच्छेद 17) कर दिया और उपर्युक्त आरक्षण संबंधी उपबंध लागू किए। 1989 के अत्याचार निवारण अधिनियम ने दलितों और आदिवासियों के विरुद्ध हिंसा और अपमानजनक कार्यों के लिए दंड देने के उपबंधों में संशोधन करके उन्हें और मजबूत बना दिया। इस प्रकार, इस विषय पर बार-बार अनेक कानून बनाए गए जो इस तथ्य के प्रमाण हैं कि अकेला कानून ही किसी सामाजिक कुप्रथा को नहीं मिटा सकता। वस्तुत: जैसाकि आपने समाचारपत्रों में पढ़ा होगा और टीवी, रेडियो जैसे संचार माध्यमों में देखा-सुना होगा, दलितों तथा आदिवासियों के विरुद्ध अत्याचार सहित भेदभाव के मामले आज भी समस्त भारत में देखने को मिलते हैं। बॉक्स 5.3 में उल्लिखित

मामला एक उदाहरण मात्र है; समाचारपत्रों और संचार माध्यमों से आप ऐसे अनेकानेक मामलों के बारे में जान सकते हैं।

कोई सरकारी कार्यवाही अकेले ही सामाजिक परिवर्तन नहीं ला सकती। इसके लिए जन-सहयोग की भी आवश्यकता होती है। हर हाल में कोई भी सामाजिक समूह भले ही वह कितना भी कमज़ोर और सताया हुआ हो, सिर्फ अत्याचारों का शिकार ही नहीं होता है। मानव विषम परिस्थितियों में भी, न्याय तथा मान-मर्यादा के लिए एकजुट होकर स्वत: संघर्ष करने को सदा तैयार होते हैं। इसलिए दलित लोग भी स्वयं राजनीतिक, आंदोलनात्मक और सांस्कृतिक मोर्चों पर अधिकाधिक सक्रिय होते गए हैं। जोतिबा फुले, इयोतीदास, पेरियार, अंबेडकर जैसे अनेक दलित नेताओं (अध्याय 3 देखें) द्वारा स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले के दौर में संघर्ष एवं आंदोलन किए गए थे वे और अन्य नए आंदोलन भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उत्तर प्रदेश की बहुजन समाज पार्टी और कर्नाटक की दलित संघर्ष समिति जैसे समकालीन राजनीतिक संगठनों द्वारा चलाए जाते रहे हैं । इस प्रकार, दलितों के राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष काफ़ी लंबे समय से चल रहा है। (समकालीन संघर्ष के एक उदाहरण के लिए बॉक्स 5.3 देखें)। दलितों ने अनेक भारतीय भाषाओं, विशेष रूप से मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलुगु और हिंदी के साहित्य में उल्लेखनीय योगदान दिया है। (बॉक्स 5.4 देखें, जिसमें मराठी भाषा के सुप्रसिद्ध दलित कवि, दया पवार की एक छोटी कविता दी गई है)।

अन्य पिछड़े वर्ग

अस्पृश्यता सामाजिक भेदभाव का सर्वाधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप था। किंतु, जातियों का एक काफ़ी बड़ा समूह ऐसा भी था जिन्हें नीचा समझा जाता था। उनके साथ तरह-तरह का भेदभाव भी बरता जाता था पर उन्हें अछूत नहीं माना जाता था। ये सेवा करने वाली शिल्पी (कारीगर) जातियों के लोग थे जिन्हें जाति-सोपान में नीचा स्थान प्राप्त था। भारत के संविधान में इस संभावना को स्वीकार किया गया है कि अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों के अलावा और भी कई समूह हो सकते हैं जो सामाजिक असुविधाओं से पीड़ित हैं। ऐसे समूहों का जाति पर आधारित होना ज़रूरी नहीं हैं, लेकिन वे आमतौर पर किसी जाति के नाम से ही पहचाने जाते हैं। इन समूहों को 'सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग' कहा गया है। यह आम बोलचाल में प्रचलित 'अन्य पिछड़े वर्ग' शब्द का संवैधानिक आधार है, जो आजकल सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता है।

'जनजाति' की श्रेणी की तरह (अध्याय 3 देखें) 'अन्य पिछड़े वर्गों' को भी नकारात्मक रूप से यानी वे क्या 'नहीं हैं' इसके आधार पर परिभाषित किया जाता है। वे न तो जाति-क्रम में 'अगड़ी' कही जाने वाली ऊँची जातियों के हिस्से हैं और न ही वे निम्नतम सोपान पर स्थित दलितों में आते हैं। लेकिन चूँकि जाति हिंदू धर्म तक ही सीमित नहीं रही है, बल्कि सभी प्रमुख भारतीय धर्मों में घुस आई है, इसलिए अन्य धर्मों में भी पिछड़ी जातियाँ पाई जाती हैं तथा इनकी भी समान परंपरागत व्यावसायिक पहचान होती है और इनकी सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति भी वैसी ही अथवा उनसे भी बदतर होती है।

इन्हीं कारणों से अन्य पिछड़े वर्ग, दलितों अथवा आदिवासियों की तुलना में अधिक विविधतापूर्ण समूह हैं। जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व में स्वतंत्र भारत की पहली सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के उपाय सुझाने के लिए एक आयोग स्थापित किया था। काका कालेलकर की अध्यक्षता में नियुक्त प्रथम पिछड़े वर्ग आयोग ने 1953 में अपनी रिपोर्ट पेश की थी। लेकिन उस समय के राजनीतिक वातावरण को देखते हुए इस रिपोर्ट को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया। पाँचवें दशक के मध्य से अन्य पिछड़े वर्गों का मुद्दा क्षेत्रीय मामला बन गया और इस पर केंद्रीय स्तर की बजाय राज्य स्तर पर कार्यवाही की जाती रही।

दक्षिणी राज्यों में पिछड़ी जातियों के राजनीतिक आंदोलनों का लंबा इतिहास रहा है, जो वहाँ बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में शुरू हो गए थे। इन शक्तिशाली सामाजिक आंदोलनों के कारण अन्य पिछड़े वर्गों की समस्याओं पर ध्यान देने की नीतियाँ वहाँ, अधिकांश उत्तरी राज्यों में चर्चित होने से पहले ही अपनाई जाने लगी थीं। अन्य पिछड़े वर्गों का मुद्दा केंद्रीय स्तर पर 1970 के दशक के आखिरी वर्षों में तब फिर से उठ खड़ा हुआ जब आपातकाल (इमरजेंसी) के बाद जनता पार्टी ने शासन की बागडोर सँभाली। उस समय बी. पी. मंडल की अध्यक्षता में दूसरा पिछड़े वर्ग आयोग नियुक्त किया गया। किंतु आगे चलकर जब 1990 में केंद्रीय सरकार ने मंडल आयोग की दस वर्ष पुरानी रिपोर्ट को कार्यान्वित करने का निर्णय लिया तभी अन्य पिछड़े वर्ग का मुद्दा राष्ट्रीय राजनीति में एक प्रमुख विषय बन गया।

1990 के दशक से हमें उत्तर भारत में अन्य पिछड़े वर्गों और दलितों दोनों में ही निचली जातियों के आंदोलनों में फिर से तेज़ी दिखाई दी। अन्य पिछड़े वर्गों के मुद्दे के राजनीतिकरण से यह संभावना बढ़ गई कि उनकी बड़ी भारी संख्या को राजनीतिक प्रभाव (यानी वोटों) में बदला जा सकता है; हाल के सर्वेक्षणों से पता चलता है कि राष्ट्रीय जनसंख्या में पिछड़े वर्गों का प्रतिशतांश लगभग 41% है। राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा पहले संभव नहीं था, इसीलिए कालेलकर आयोग की रिपोर्ट को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया था और मंडल आयोग की रिपोर्ट की लंबे समय तक उपेक्षा की गई थी।

उच्च स्तर के अन्य पिछड़े वर्गों (जो अधिकतर भूमिधर जातियाँ हैं और भारत के अनेक क्षेत्रों में वहाँ के ग्रामीण समाज में प्रभुत्वशाली हैं) और निम्न स्तर के अन्य पिछड़े वर्गों (जो बहुत ही गरीब और सुविधावंचित लोग हैं और अक्सर सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से दलितों से बहुत भिन्न नहीं हैं) के बीच पाई जाने वाली घोर विषमताओं ने इस राजनीतिक श्रेणी की समस्याओं से निपटना बहुत कठिन बना दिया है। तथापि भूधारण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व को छोड़कर (जहाँ उनके विधायकों तथा सांसदों की संख्या काफ़ी बढ़ी है), बाकी सभी कार्यक्षेत्रों में अन्य पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व काफ़ी कम है। यद्यपि उच्च स्तर के अन्य पिछड़े वर्ग ग्रामीण क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बनाए हुए हैं, लेकिन नगरों में अन्य पिछड़े वर्गों की स्थिति काफ़ी खराब है, यानी उनकी स्थिति ऊँची जातियों की बजाय काफ़ी हद तक अनुसूचित जातियों और जनजातियों जैसी ही है।

आदिवासी संघर्ष

अनुसूचित जातियों की तरह ही, अनुसूचित जनजातियों को भी भारतीय संविधान द्वारा विशेष रूप से निर्धनता, शक्तिहीनता तथा सामाजिक लांछन से पीड़ित समाजिक समूह के रूप में पहचाना गया है। जन या जनजातियों को ऐसा 'वनवासी' समझा गया जिनके पहाड़ी या जंगली इलाकों के विशिष्ट परिस्थितियों में आवास ने उनकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विशेषताओं को आकार दिया। लेकिन यह पारिस्थितिक पृथकता कहीं भी पूर्ण नहीं थी, अर्थात् वे एकदम अलग-थलग या संपर्कहीन नहीं थे। जनजातीय समूहों का हिंदू समाज और संस्कृति से लंबा और निकट का नाता रहा है, जिससे 'जनजाति' और 'जाति' के बीच की परिसीमाएँ काफ़ी जीर्ण-शीर्ण हो गई हैं। (अध्याय 3 में जनजाति की संकल्पना पर हुई चर्चा को याद करें)।

आदिवासियों के मामले में, उनकी आबादी के एक इलाके से दूसरे इलाके में आने जाने से हालात और भी उलझ गए हैं। आज, पूर्वोत्तर राज्यों को छोड़कर, देश में ऐसा कोई इलाका नहीं है जहाँ केवल जनजातीय लोग ही रहते हों; सिर्फ़ ऐसे इलाके हैं जहाँ जनजातीय लोगों का *जमावड़ा* अधिक है। यानी उनकी आबादी घनी है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अब तक बहुत-से गैर-जनजातीय लोग मध्य भारत के जनजातीय

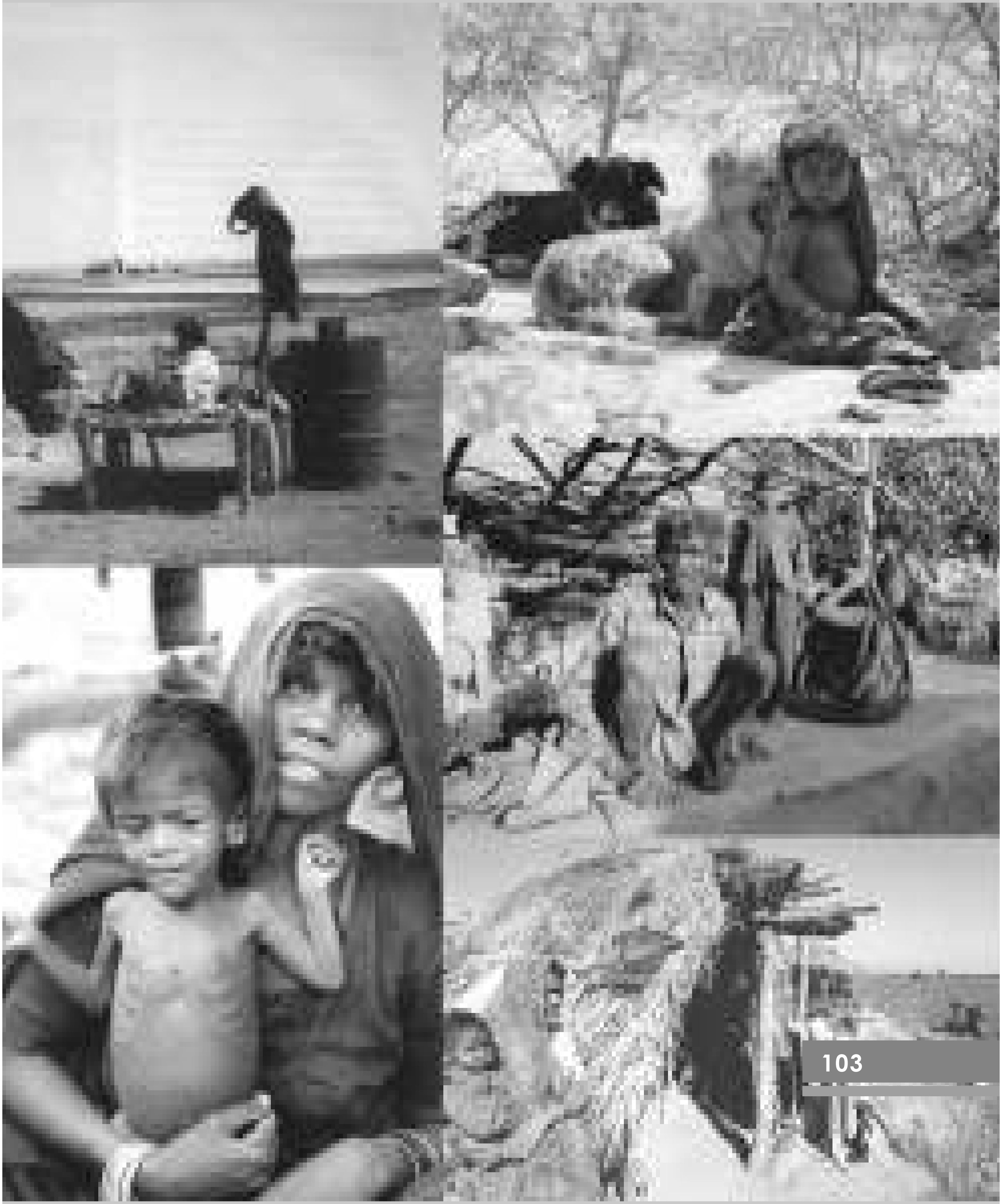

जिलों में जा बसे हैं और उन्हीं जिलों के जनजातीय लोग भी रोज़गार की तलाश में बागानों, खानों, कारखानों तथा रोज़गार के अन्य स्थलों में चले गए हैं।

जिन इलाकों में जनजातीय लोगों की आबादी घनी है, वहाँ आमतौर पर उनकी आर्थिक और सामाजिक हालत, गैर-जनजातीय लोगों की अपेक्षा, कहीं बदतर है। गरीबी और शोषण की जिन परिस्थितियों में आदिवासी अपना गुजर-बसर करने के लिए मजबूर हैं, उनका ऐतिहासिक कारण यह रहा कि औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार ने तेज़ी से जंगलों के संसाधनों को निकालना शुरू कर दिया और यह सिलसिला आगे स्वतंत्र भारत में भी जारी रहा। उन्नीसवीं सदी के परवर्ती दशकों से लेकर आगे भी औपनिवेशिक सरकार ने अधिकांश वन-प्रदेश अपने उपयोग के लिए आरक्षित कर लिए और आदिवासियों को वहाँ की उपज इकट्ठी करने और झूम खेती के लिए उनका उपयोग करने के अधिकारों से वंचित कर दिया। फिर तो इमारती लकड़ी का अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए ही वनों का संरक्षण किया जाने लगा। इस नीति के चलते, आदिवासियों से उनकी आजीविका के मुख्य आधार छीन लिए गए और इस प्रकार उनके जीवन को पहले की अपेक्षा अधिक अभावपूर्ण और असुरक्षित बना दिया गया। जब आदिवासियों से वनों की उपज और खेती के लिए जमीन छिन गई तब वे या तो वनों का अवैध रूप से इस्तेमाल करने को मजबूर हो गए (जिसके लिए उन्हें 'घुसपैठिए' और चोर-उचक्के कहकर तंग और दंडित किया जाने लगा) या फिर दिहाड़ी मजदूरी की तलाश में वन छोड़कर अन्यत्र चले गए।

1947 में भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद, आदिवासियों की ज़िंदगी आसान हो जानी चाहिए थी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसका एक कारण तो यह था कि वनों पर सरकार का एकाधिकार जारी रहा। यहाँ तक कि वनों के दोहन (कटाई आदि) में और तेजी आ गई। दूसरे, भारत सरकार द्वारा अपनाई गई पूँजी-प्रधान औद्योगीकरण की नीति को कार्यान्वित करने के लिए खनिज संसाधनों और विद्युत उत्पादन की क्षमताओं की आवश्यकता थी और ये क्षमताएँ और संसाधन मुख्य रूप से आदिवासी क्षेत्रों में ही स्थित थे। नयी खनन और बाँध परियोजनाओं के लिए जल्दी से आदिवासी भूमियाँ अधिगृहीत कर ली गई। इस प्रक्रिया में, लाखों आदिवासियों को, पर्याप्त मुआवजे और समुचित पुनर्वास की व्यवस्था किए बिना विस्थापित कर दिया गया। 'राष्ट्रीय विकास' और 'आर्थिक संवृद्धि' के नाम पर इस कार्य को न्यायोचित ठहराया गया; इस प्रकार इन नीतियों का पालन वास्तव में, एक तरह का आंतरिक उपनिवेशवाद ही था जिसके अंतर्गत आदिवासियों को अपने आधीन करके उनके संसाधनों को, जिन पर वे निर्भर थे, छीन लिया गया। पश्चिमी भारत में नर्मदा नदी पर सरदार सरोवर बाँध और आंध्र प्रदेश में गोदावरी नदी पर पोलावरम बाँध बनाने की परियोजनाओं से लाखों आदिवासी विस्थापित हो जाएँगे, जो उन्हें पहले से अधिक अभावग्रस्त बना देगा। ये प्रक्रियाएँ लंबे अरसे से चलती रही हैं और 1990 के दशक से तो और भी अधिक प्रबल हो गई हैं, जबसे भारत सरकार द्वारा आर्थिक उदारीकरण की नीतियाँ आधिकारिक रूप से अपनाई गई हैं। अब निगमित फर्मों के लिए आदिवासियों को विस्थापित करके बड़े-बड़े इलाके अधिगृहीत करना अधिक आसान हो गया है।

'दलित' शब्द की तरह, 'आदिवासी' शब्द भी राजनीतिक जागरूकता और अधिकारों की लड़ाई का सूचक बन गया है। इसका शब्दिक अर्थ है: 'मूल निवासी' और इस शब्द को औपनिवेशिक सरकार और बाहरी वाशिंदों तथा 'साहूकारों' (ऋणदाताओं) द्वारा की जा रही घुसपैठ के विरुद्ध संघर्ष के अंतर्गत 1930 के दशक में गढ़ा गया था। आदिवासी होने का मतलब स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से 'विकास परियोजनाओं' के नाम पर आदिवासियों से वनों का छिन जाना, भूमि का अपहरण, बार-बार विस्थापन एवं अन्य कई और परेशानियों का सम्मिलित अनुभव है।

इन भारी विडंबनाओं और उपेक्षाओं के बावजूद, अनेक जनजातीय समूह बाहरी लोगों (जिन्हें 'डिक्कू' कहा जाता है) और सरकार के विरुद्ध संघर्ष करते रहते हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में, आदिवासी आंदोलनों की सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धियों में से एक है, झारखंड और छत्तीसगढ़ के लिए अलग राज्य का दर्जा प्राप्त करना। ये दोनों राज्य मूल रूप से क्रमश: बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों के हिस्से थे। इस दृष्टि से, आदिवासी और उनके संघर्ष दलित संघर्ष से भिन्न है, क्योंकि दलितों के विपरीत, आदिवासी संलग्न इलाकों में संकेंद्रित थे, इसलिए वे अपने लिए अलग राज्य की माँग कर सके।

बॉक्स 5.5

विकास के नाम पर-आदिवासी गोली-वर्षा के शिकार

नव वर्ष उड़ीसा के लिए मृत्यु का तांडव लेकर आया। 2 जनवरी, 2006 को, पुलिस ने आदिवासियों के एक समूह पर गोलियाँ दाग दीं। इस गोलीकांड में बारह लोग मारे गए और अन्य बहुत से घायल हो गए। पिछले 23 दिनों से आदिवासियों ने कलिंगनगर राजमार्ग को रोक रखा था। वे एक स्टील कंपनी द्वारा उनकी कृषि-भूमियाँ लिए जाने का शांतिपूर्वक विरोध कर रहे थे। उन्होंने अपनी ज़मीनें छोड़ने से इंकार क्या किया मानो प्रशासन के साँड को लाल कपड़ा दिखाकर बिदका दिया। उस समय प्रशासन पर राज्य में जल्दी-से-जल्दी औद्योगिक विकास करने के लिए दबाव था। दाँव बहुत ऊँचा लगा था: यह भूमि का टुकड़ा ही नहीं बल्कि त्वरित औद्योगीकरण की समस्त नीति ही खतरे में पड़ जाएगी, यदि सरकार आदिवासियों की माँग के आगे झुक जाएगी। इसलिए बलपूर्वक राजमार्ग की रुकावट दूर करने के लिए पुलिस को बुलाया गया। तदुपरांत जो मुठभेड़ हुई उसमें बारह आदिवासी पुरुषों और महिलाओं को अपनी जानों से हाथ धोना पड़ा। बहुतों को तो पीठ में गोलियाँ लगी थीं, क्योंकि वे भागकर बचने की कोशिश कर रहे थे। जब मरे हुए आदिवासियों के शव उनके परिवारों को सौंपे गए तो वे यह देखकर स्तब्ध रह गए कि पुलिस ने उनके हाथ, पुरुषों की जननेंद्रिय और स्त्रियों के स्तन काट लिए थे। शवों को इस तरह क्षत-विक्षत किया जाना इस चेतावनी का द्योतक था कि-हम कुछ भी कर सकते हैं।

कलिंगनगर का हत्याकांड, इससे पहले और बाद में हुए ऐसे ही कांडों की तरह, थोड़े-से समय के लिए अखबारों की सुर्खियों में रहा और फिर जनता की नज़रों से गायब हो गया। गरीब आदिवासियों की ज़िंदगी और मौत, उनके शरीरों और ज़मीनों पर लगे राज्य-शक्ति के घावों के निशान वापस विस्मृति के गर्त में चले गए। पर उनका संघर्ष आज भी जारी है और उस पर चर्चा करके हम न केवल तब से चले आ रहे अन्याय का मुकाबला करने का संकल्प दोहराते हैं, बल्कि हम यह समझने की कोशिश भी करते हैं कि इस संघर्ष में आज भारत के पर्यावरण और विकास के क्षेत्र से जुड़े अनेक प्रमुख मुद्दे भी गड्डमड्ड हैं, अर्थात् समाहित हैं। देश के अन्य बहुत-से आदिवासी-बहुल इलाकों की तरह, मध्य उड़ीसा के जाजपुर जिले का कलिंगनगर इलाका भी एक विरोधाभास प्रस्तुत करता है। यहाँ प्राकृतिक संसाधनों का तो भंडार है पर उसके विपरीत यहाँ के निवासी, खासतौर पर छोटे किसान और श्रमिक, घोर गरीबी की पीड़ा सह रहे हैं। इस इलाके में खनिज लोहे का जो भरपूर भंडार है वह तो राज्य की संपत्ति है और उनके 'विकास' का अर्थ है कि आदिवासी भूमियों को राज्य द्वारा अनिवार्य रूप से कौड़ियों के भाव अधिगृहीत कर लेना। हो सकता है कि थोड़े से स्थानीय निवासियों को औद्योगिक क्षेत्र में कोई छोटी-मोटी नौकरी हाथ लग जाए, पर अधिकांश आदिवासी लोग तो आगे और भी अधिक गरीब हो जाएँगे और उन्हें दिहाड़ी मज़दूरों के रूप में भुखमरी की कगार पर जीवनयापन करना होगा। अनुमान लगाया गया है कि तीन करोड़ यानी कनाडा की संपूर्ण जनसंख्या से भी अधिक लोग 1947 से, भारत के स्वतंत्र होने के बाद से, इस भूमि अधिग्रहण नीति के परिणामस्वरूप विस्थापित हुए हैं (फर्नांडिस 1991)। उनमें से लगभग 75 प्रतिशत लोग, जैसाकि सरकार ने खुद स्वीकार किया है, 'अब भी पुनर्वास की प्रतीक्षा कर रहे हैं।' भूमि अधिग्रहण की यह प्रक्रिया इसलिए न्यायोचित ठहराई जाती है क्योंकि यह जनहित में है और राज्य औद्योगिक

उत्पादन और आधारभूत ढाँचे का विस्तार करके आर्थिक संवृद्धि को बढ़ावा देने के लिए प्रतिबद्ध है। यह दावा किया जाता है कि राष्ट्र के विकास के लिए ऐसी संवृद्धि आवश्यक है।

इन दलीलों के साथ एक नया औचित्य और जोड़ दिया गया है। 1990 से, भारत सरकार ने आर्थिक उदारीकरण की नीति को अपना रखा है, जिसके तहत राज्य को कल्याण कार्यों से वंचित कर दिया गया है और निजी फर्मों को नियंत्रित करने वाले संस्थागत उपकरणों को खत्म कर दिया गया है। आर्थिक नीति को अधिक से अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए फिर से ढाला गया है और भारतीय तथा विदेशी फर्मों को निर्यात के लिए, उत्पादन में पूँजी-निवेश को प्रोत्साहन देने के लिए रियायतें और सब्सीडियाँ (आर्थिक सहायता) दी गई हैं। कलिंगनगर के लौह खनिज में इस्पात के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ी हुई माँग के कारण उद्योगपतियों की दिलचस्पी बढ़ी है और इसी वजह से कंपनियाँ इस ओर आकर्षित हुई थी। एक कंपनी ने इस्पात के एक नए कारखाने (संयंत्र) का काम शुरू करने के लिए उड़ीसा की राज्य सरकार से जमीन खरीदी थी और वह कारखाना स्थल को घेरने के लिए एक चारदीवारी बना रही थी। इस दीवार के निर्माण ने ही विरोध भड़काया था जिसके परिणामस्वरूप कुछ आदिवासी मारे गए थे। राज्य सरकार ने वर्षों पहले इन आदिवासियों को प्रति एकड़ कुछ हज़ार रुपये अदा करके यह ज़मीन ज़बरदस्ती हासिल की थी। चूँकि आदिवासी उन्हें मिले मामूली मुआवज़े के बल पर अपनी रोज़ी-रोटी का कोई वैकल्पिक साधन नहीं जुटा पाए इसलिए वे उसी इलाके में रहते रहे और उस जमीन को जोतते रहे जिस पर कानूनी तौर पर उनका अब कोई हक नहीं रहा था (प्रशासन ने भूमि अधिगृहीत करने के बाद उसका कोई उपयोग नहीं किया था)। दिसंबर 2005 में जब भूमि को घेरना शुरू किया तब आदिवासियों को अपनी आजीविका के एकमात्र साधन से प्रत्यक्षतः हाथ धोना पड़ा। उनका निराशाजन्य उन्माद उस समय क्रोध से भड़क उठा जब उन्हें यह पता चला कि राज्य सरकार ने उसी भूमि को, जिसके लिए उसने आदिवासियों को कुछ हज़ार रुपये ही चुकाए थे बिना कोई सुधार खर्च किए, स्टील फर्म को लगभग दस गुना ज्यादा रुपये प्रति एकड़ की दर से बेच दिया है। यह सरकार द्वारा मोटी मुनाफ़ाखोरी का स्पष्ट मामला था जिसमें सरकार द्वारा उन नागरिकों को कंगाल बना दिया गया था जिन्हें संरक्षण प्रदान करने का दायित्व सरकार का था। आदिवासी सड़कों पर उतर आए। उन्होंने उस ज़मीन को छोड़ने से इंकार कर दिया जो उनके जीवन का आधार थी।

उड़ीसा में आदिवासियों के संघर्ष और उनके हिंसात्मक प्रतिशोध की कहानी यह उजागर करती है कि भूमि और प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित झगड़े भारत के विकास की चुनौती के केंद्र-बिंदु रहे हैं। अब कलिंगनगर के साथ नर्मदा, सिंगरौली, टिहरी, हिराकुंड, कोइलकारो, सुवर्णरेखा, नागरहोल, प्लाचीमाडा और अन्य बहुत-से स्थलों के नाम भी भारत के पर्यावरणीय संघर्षों के मानचित्र पर अंकित हो गए हैं। दूसरे मानचित्रों की तरह, इस की रूपरेखा भी गहरी सामाजिक और राजनीतिक विभेदना को प्रतिबिंबित करती है जो कि समकालीन भारत की एक विशेषता है।

'कलिगनगर' के बारे में और पढ़ने के लिए फ्रंटलाइन, वाल्यूम 23, जनवरी 14-27 के अंक को पढ़ें या द पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीस रिपोर्ट को http://www.pucl.org/Topics/Dalit-tribal/2006/kalinganagar.htm पर देखें

5.3 स्त्रियों की समानता और अधिकारों के लिए संघर्ष

पुरुषों और स्त्रियों के बीच जैविक और शारीरिक स्पष्ट अंतरों के कारण अक्सर यही समझा जाता है कि लैंगिक असमानता प्रकृति की ही देन है। किंतु, इस बाहरी दिखावट के बावजूद विद्वानों ने यह भी दर्शा दिया है कि पुरुषों और स्त्रियों के बीच असमानताएँ प्राकृतिक नहीं, बल्कि सामाजिक हैं। उदाहरण के

लिए, ऐसे कोई जैविक कारण नहीं दिखाई देते जिनसे यह स्पष्ट हो सके कि सार्वजनिक शक्तिसंपन्न पदों पर स्त्रियाँ इतनी कम संख्या में क्यों पाई जाती हैं। और न ही प्रकृति में इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर मिलता है कि अधिकांश समाजों में आमतौर पर स्त्रियों को पारिवारिक संपत्ति का छोटा हिस्सा क्यों मिलता है अथवा बिल्कुल नहीं मिलता। लेकिन जिन समाजों का स्वरूप 'सामान्य' से हटकर है उनकी ओर से इस असमानता के विरोध में एक प्रबलतम तर्क दिया जाता है कि यदि स्त्रियाँ परिवारों की मुखिया बनने और पारिवारिक संपत्ति को उत्तराधिकार में पाने के लिए जैविक रूप से अयोग्य थीं तो फिर मातृवंशीय समाज (जैसे केरल का नायर समाज होता था और मेघालय का खासी समाज जो आज भी मातृवंशीय है) सदियों तक सफलतापूर्वक क्यों चलते रहे? अनेक अफ्रीकी समाजों में स्त्रियाँ किसानों तथा व्यापारियों के रूप में अपना काम सफलतापूर्वक कैसे करती रही हैं? संक्षेप में, पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच असमानता का कोई जैविक कारण नहीं है। इस प्रकार, लिंग भी जाति और वर्ग की तरह ही, सामाजिक विषमता या असमानता और बहिष्कार का एक रूप हैं, लेकिन इसके अपने अलग लक्षण या विशेषताएँ हैं। इस अनुभाग में हम यह देखेंगे कि लैंगिक असमानता को भारतीय संदर्भ में, असमानता क्यों और कैसे माना जाने लगा और इस मान्यता के परिणामस्वरूप किस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुई।

आधुनिक भारत में स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न उन्नीसवीं सदी के मध्य वर्गीय सामाजिक सुधार आंदोलनों के एक हिस्से के रूप में उदित हुआ। इन आंदोलनों का स्वरूप सभी क्षेत्रों में एक जैसा नहीं था। उन्हें अक्सर मध्य वर्गीय सुधार आंदोलनों की संज्ञा इसीलिए दी जाती थी कि इन सुधारकों में से बहुत से लोग नए उभरते हुए पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीय मध्य वर्ग से थे। वे अक्सर आधुनिक पश्चिम के लोकतांत्रिक आदर्शों द्वारा और अपने स्वयं के अतीत की लोकतांत्रिक परंपराओं पर गर्व एवं गौरव महसूस करते हुए इन सुधारों के लिए प्रेरित हुए थे। कई सुधारकों ने तो स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने के प्रयोजन से इन दोनों संसाधनों का उपयोग किया था। हम इस संबंध में यहाँ कुछ उदाहरण दे सकते हैं जैसे, बंगाल में राजा राममोहन राय ने सती-विरोधी अभियान का नेतृत्व किया; बाम्बे प्रेसिडेंसी में वहाँ के अग्रणी सुधारक रानाडे ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए आंदोलन चलाया; जोतिबा फुले ने एक साथ जातीय और लैंगिक अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई और सर सैयद अहमद खान ने इस्लाम में सामाजिक सुधारों के आंदोलन का नेतृत्व किया।

समाज, धर्म और स्त्रियों की परिस्थिति में सुधार करने के लिए राजा राममोहन राय द्वारा किए गए प्रयत्नों को बंगाल में उन्नीसवीं सदी के सामाजिक सुधारों का प्रारंभिक बिंदु कहा जा सकता है। 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना से एक दशक पहले राय ने 'सती' प्रथा के विरुद्ध अभियान चलाया; यह पहला स्त्री संबंधी मुद्दा था जिस पर आम लोगों का ध्यान आकर्षित किया गया था। राममोहन राय के विचारों में पाश्चात्य तर्कसंगति और भारतीय पारंपरिकता का सुंदर मिश्रण था। इन दोनों प्रवृत्तियों को उपनिवेशवाद की प्रतिक्रिया के व्यापक संदर्भ में रखकर देखा जा सकता है। राममोहन ने, इस प्रकार, सती की प्रथा का विरोध मानवतावादी तथा नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धांतों एवं हिंदू शास्त्रों के आधार पर किया।

क्रियाकलाप 5.4

- देश के जिस भाग में आप रहते हैं वहाँ के किसी एक समाज-सुधारक के बारे में पता लगाएँ। उसके बारे में सूचना इकट्ठी करें।
- किसी एक समाज सुधारक की आत्मकथा/जीवनी पढ़ें।
- सुधारकों ने जिन विचारों के लिए संघर्ष किया था, क्या वे हमारे रोज़मर्रा के जीवन में अथवा हमारे संवैधानिक प्रावधानों में आज विद्यमान हैं?

हिंदुओं की ऊँची जातियों में विधवाओं के साथ उस समय किया जा रहा निंदनीय एवं अन्यायपूर्ण व्यवहार एक प्रमुख मुद्दा था जिसे सामाजिक सुधारकों ने उठाया। रानाडे ने इस संबंध में बिशप जोसेफ बटलर जैसे विद्वानों के लेखों का उपयोग किया, जिनकी कृति 'ऐनेलॉजी ऑफ़ रिलीजन' और 'थ्री सरमंस ऑन ह्यूमन नेचर' को 1860 के दशक में मुंबई विश्वविद्यालय के नैतिक दर्शन संबंधी पाठ्यक्रम में प्रमुख स्थान प्राप्त था। इसी समय, एम. जी. रानाडे द्वारा लिखित ग्रंथों 'दि टेक्स्टस् ऑफ द हिंदू लॉ ऑन द लॉफुलनेस ऑफ द रीमैरिज ऑफ विडोज' और 'वेदिक ऑथॉरिटीज फॉर विडो मैरिज' में विधवा विवाह के लिए शास्त्रीय स्वीकृति का विशद विवेचन किया गया।

क्रियाकलाप 5.5

- उन कार्यों की सूची बनाएँ जिनमें आज स्त्रियाँ संलग्न हैं।
- क्या आप ऐसे किसी शैक्षिक क्षेत्र के बारे में सोच सकते हैं जहाँ आज स्त्रियों पर प्रतिबंध है? आजकल भारतीय सशस्त्र सेनाओं में स्त्रियों के प्रवेश पर जो चर्चा चल रही है, उससे शायद इस विषय पर कोई रोशनी पड़े।

रानाडे और राममोहन तो उन्नीसवीं सदी के ऐसे समाज-सुधारक थे जो तथाकथित ऊँची जातियों और मध्यवर्ग से थे; लेकिन सामाजिक दृष्टि से अपवर्जित जाति से भी एक समाजसुधारक का अविर्भाव हुआ; उनका नाम था जोतिबा फुले और उन्होंने जातीय और लैंगिक दोनों प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' नामक संस्था की स्थापना की और उसके माध्यम से सत्य की खोज पर बल दिया। व्यावहारिक सामाजिक सुधारों के लिए फुले ने सर्वप्रथम, पारंपरिक ब्राह्मण संस्कृति में सबसे नीचे समझे जाने वाले दो समूहों, स्त्रियों एवं अछूतों को सहायता देने के प्रयत्न किए।

कुछ अन्य सुधारकों के मामले में भी आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा और परंपरागत धर्मग्रंथों का सहारा लेने की समन्वयात्मक प्रवृत्ति दिखाई दी। इनमें एक थे-सर सैयद अहमद खान जिन्होंने मुस्लिम समाज को सुधारने के लिए प्रयत्न किए। वह चाहते थे कि लड़कियों को शिक्षित तो किया जाए पर घर की चारदीवारी

बॉक्स 5.6

स्त्री-पुरुष तुलना 1882 का हिंदी अनुवाद

... वे स्त्रियाँ कौन हैं जिन्हें तुम ऐसे नाम देते हो, गालियाँ देते हो? तुम किसकी कोख से पैदा हुए थे? किसने नौ महीने तक अपने पेट में तुम्हारा दुर्वह बोझ उठाया था? वह कौन-सा संत था जिसने तुम्हें उसकी आँखों का तारा बनाया था, ... तब तुम कैसा महसूस करोगे जब कोई तुम्हारी माँ के बारे में कहेगा, "उस बुढ़ऊ की माँ, जानते हो, नरक का दरवाजा है"। अथवा तुम्हारी बहन, "अमुक व्यक्ति की बहन, वह तो वास्तव में धोखे की पिटारी है" ...क्या तुम चुपचाप बैठे-बैठे वह सब गंदे शब्द सुन लोगे?...

...जब तुम थोड़ी सी पढ़ाई कर लेते हो और तरक्की पाकर किसी नए ऊँचे महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँच जाते हो तब फिर तुम्हें अपनी पहली पत्नी के लिए शर्म आने लगती है। तुम्हारे ऊपर धन-दौलत का असर होने लगता है और तुम मन-ही-मन सोचने लगते हो, पत्नी है तो क्या फ़र्क पड़ता है? क्या हम उन्हें हर महीने कुछ रूपल्ली देकर नौकर की तरह खाना पकाने या घर की देखभाल करने के लिए घर में नहीं रखते? फिर तो तुम उसे एक दासी की तरह समझने लगते हो जिसके लिए तुम उसे पैसा देते हो... अगर तुम्हारे घोड़ों में से कोई एक घोड़ा मर जाए तो उसकी जगह दूसरा लाने में तुम्हें कोई देर नहीं लगेगी, और दूसरी पत्नी लाने में भी तो कोई खास मेहनत नहीं करनी पड़ती। ...समस्या तो यह है कि यमराज को भी तो इतनी फुर्सत नहीं मिलती कि वह जल्दी-जल्दी पत्नियों को ले जाएँ, नहीं तो तुम एक दिन में कई पत्नियाँ बदल लेते!

बॉक्स 5.7

सुल्तानाज ड्रीम (1905) का हिंदी अनुवाद

"कहिए किस फिक्र में हैं आप साहिबा"? उसने बड़े प्यार से पूछा
"मुझे कुछ अटपटा-सा लग रहा है", मैंने कुछ माफ़ी माँगने के लहजे मे कहा, "मैं एक पर्दानशीन औरत हूँ, मुझे बिना पर्दे के चलने की आदत नहीं है।"
"आप डरिए नहीं, यहाँ कोई मर्द नहीं आएगा। यह 'लेडी लैंड' (महिला-भूमि) है, यहाँ कोई पाप या कुकर्म नहीं होता..."
...मैं यह जानने के लिए बहुत उत्सुक हो गई कि आखिर सभी मर्द चले कहाँ गए। वहाँ चलते हुए मेरी सैकड़ों औरतों से मुलाकात हुई, मर्द एक भी नहीं मिला।
"मर्द लोग कहाँ हैं?" मैंने उससे पूछा।
"अपनी-अपनी सही जगह पर होंगे, जहाँ उन्हें होना चाहिए"।
"अरे, जरा यह बताने की तकलीफ तो फरमाइए कि उनकी 'सही जगह' कौन-सी है"।
"अरे, मुझसे गलती हो गई, आप हमारे रीति-रिवाजों को नहीं जानती, क्योंकि आप पहले कभी यहाँ नहीं आईं। हम अपने मर्दों को दरवाजे के भीतर बंद रखती हैं"।
"जैसे हमे जनाना में रखा जाता हैं?"
"बिल्कुल ठीक वैसे ही।"
"यह कितना मजेदार है" मेरे मुँह से हँसी का फव्वारा फूट पड़ा। बहन सारा भी हँस पड़ीं।

क्रियाकलाप 5.6

- कुछ नारी संगठनों के नामों का पता लगाएँ जो देश में राष्ट्रीय स्तर पर और आपके क्षेत्र दोनों में उभरे।
- किसी ऐसी स्त्री के बारे में पता लगाएँ जिसने किसी जनजातीय या कृषक आंदोलन, व्यवसाय संघ अथवा किसी भी प्रकार के स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया हो।
- अपने क्षेत्र में रचित किसी उपन्यास, लघुकथा अथवा नाट्यकृति का नाम बताएँ जिसमें भेदभाव के विरुद्ध नारी-संघर्ष का चित्रण किया गया हो।

के भीतर ही। आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती की तरह उन्होंने भी महिलाओं को शिक्षा देने का समर्थन किया लेकिन उनका विचार था कि उनके लिए अलग किस्म की पाठ्यचर्या हो जिसके तहत धार्मिक उसूलों की शिक्षा दी जाए, घर-गृहस्थी चलाने की कलाओं और शिल्पों तथा बच्चों के पालन-पोषण का प्रशिक्षण दिया जाए। यह विचार आज बहुत ही रूढ़िवादी प्रतीत हो सकता है। लेकिन हमें यह समझना होगा कि एक बार स्त्रियों के लिए शिक्षा जैसे अधिकारों को स्वीकार कर लिया गया तो फिर इस प्रक्रिया ने एक ऐसा दौर शुरू किया जिसमें अंततः स्त्रियों को कुछ किस्मों की शिक्षा तक ही सीमित रखना नामुमकिन हो गया।

अक्सर यह मान लिया जाता है कि स्त्रियों के अधिकारों के लिए समाज सुधार की लड़ाई पूर्णरूप से पुरुष सुधारकों द्वारा ही लड़ी गयी थीं और यह भी स्त्रियों की समानता के विचार बाहर से आयातित थे। यह जानने के लिए कि ये दोनों ही धारणाएँ गलत हैं, बॉक्स 5.6 एवं 5.7 में दिए गए उद्धरण पढ़ें। ये उद्धरण स्त्रियों द्वारा लिखी गई दो पुस्तकों से लिए गए हैं जिनमें से पहली 'स्त्री-पुरुष तुलना' 1882 में और दूसरी 'सुल्तानाज ड्रीम' 1905 में लिखी गई थी।

'स्त्री-पुरुष तुलना' नामक पुस्तक एक महाराष्ट्रीय गृहिणी ताराबाई शिंदे द्वारा लिखी गई थी, जिसमें पुरुष प्रधान समाज द्वारा अपनाए गए दोहरे मापदंडों का विरोध किया गया था। एक जवान ब्राह्मण विधवा को न्यायालय द्वारा मृत्युदंड दिया गया था, विधवा का अपराध यह था कि उसने अपने नवजात शिशु की हत्या इसलिए कर दी थी क्योंकि वह उसकी नाजायज संतान था; लेकिन जिस पुरुष का वह बच्चा था उसका पता लगाने या उसे दंड देने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। जब 'स्त्री-पुरुष तुलना' पुस्तक प्रकाशित हुई तो समाज में एक खलबली-सी मच गई। बेगम रोकेया सखावत हुसैन का जन्म

एक धनी बंगाली मुस्लिम परिवार में हुआ था, और वह इस मायने में खुशनसीब थीं कि उनके पति उदार दृष्टिकोण रखते थे और उन्होंने सर्वप्रथम उर्दू में और फिर बांग्ला तथा अंग्रेज़ी में शिक्षा प्राप्त करने के लिए बेगम रोकेया को प्रोत्साहित किया। बेगम रोकेया ने जब अंग्रेज़ी में अपनी योग्यताओं को परखने के लिए 'सुल्तानाज ड्रीम' (सुल्ताना का सपना) लिखा तो उससे पहले ही उन्हें उर्दू तथा बांग्ला की लेखिका के रूप में सफलता मिल चुकी थी। 'सुल्तानाज़ ड्रीम' शीर्षक नामक यह शानदार छोटी कहानी संभवत: भारत में विज्ञान कथा लेखन का प्रारंभिक नमूना है और विश्वभर में कहीं भी किसी महिला लेखिका द्वारा रचित प्रथम कृति का उदाहरण है। अपने सपने में सुल्ताना एक जादुई मुल्क के सफर पर जाती हैं। उस मुल्क में पुरुषों के कार्य स्त्रियों द्वारा और स्त्रियों के कार्य पुरुषों द्वारा किए जाते हैं। पुरुष घर से बाहर नहीं जाते और 'पर्दा' रखते हैं जबकि स्त्रियाँ व्यस्त वैज्ञानिकों के रूप में ऐसे उपकरणों का अविष्कार करने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा कर रही होती हैं, जिनकी सहायता से बादलों को नियंत्रित करके इच्छानुसार वर्षा करवाई जा सकती हो और वे ऐसी मशीनें, यानी 'हवाई कारें' बनाने के लिए भी प्रयत्नशील हैं जो आकाश में उड़ सकें।

प्रारंभिक नारी-अधिकारवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ, हमारे यहाँ अनेकानेक नारी संगठन भी थे जो बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में अखिल भारतीय एवं स्थानीय स्तरों पर उभर आए थे और फिर स्त्रियों का राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेना शुरू हो गया। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि स्त्रियों के अधिकार राष्ट्रवादी परिकल्पना के अभिन्न अंग थे।

क्रियाकलाप 5.7

अपनी कक्षा को कई समूहों में बाँट लें। प्रत्येक समूह स्त्रियों के अधिकारों से संबंधित कोई विषय चुन सकता है जिसके बारे में वे समाचारपत्रों, रेडियो, टेलीविजन की खबरों या अन्य स्रोतों से सूचना इकट्ठी करें। अपने निष्कर्षों के बारे में अपने सहपाठियों से चर्चा करें।

विषयों या मुद्दों के कुछ संभव उदाहरण निम्नलिखित हो सकते हैं:

- निर्वाचित निकायों में स्त्रियों के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण।
- घरेलू हिंसा
- रोज़गार का अधिकार।

... और भी कई दिलचस्प विषय/प्रसंग हो सकते हैं आप अपनी रुचि के विषय चुनें।

1931 में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कराची अधिवेशन में भारत के नागरिकों के मूल अधिकारों के बारे में एक घोषणा जारी की गई जिसके द्वारा कांग्रेस ने स्त्रियों को समानता का अधिकार देने के लिए स्वयं को प्रतिबद्ध किया। यह घोषणा इस प्रकार थी:

1. सभी नागरिक कानून (विधि) के समक्ष एक समान हैं चाहें उनका धर्म, जाति, पंथ या लिंग कोई भी हो।
2. किसी भी नागरिक को उसके धर्म, जाति, पंथ या लिंग के कारण सार्वजनिक रोज़गार, शक्ति या सम्मान का पद दिए जाने अथवा कोई भी व्यापार या धंधा किए जाने के संबंध में निर्योग्य नहीं ठहराया जाएगा।
3. मताधिकार का प्रयोग सर्वजनीन वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा।
4. स्त्रियों को मत डालने, प्रतिनिधित्व करने और सार्वजनिक पद धारण करने का अधिकार होगा। ('योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में नारी की भूमिका' विषयक उपसमिति की रिपोर्ट 1947:37-38)।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दो दशक बीत जाने पर, 1970 के दशक में स्त्रियों के मुद्दे फिर से उठ खड़े हुए। 19वीं सदी के सुधार आंदोलनों में सती, बाल विवाह जैसी परंपरागत कुरीतियों अथवा विधवाओं के साथ बुरे बर्ताव को रोकने पर विशेष बल दिया गया था। 1970 के दशक में 'आधुनिक' मुद्दों, पुलिस अभिरक्षा में स्त्रियों के साथ बलात्कार, दहेज के लिए हत्या, लोकप्रिय माध्यमों में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व और असमान विकास के लैंगिक परिणाम आदि की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया गया। 1980 के दशक में और उसके बाद कानून सुधार का विशेष मुद्दा बना, खासतौर पर उस समय जब यह पाया गया

कि स्त्रियों से सरोकार रखने वाले बहुत-से कानूनों को 19वीं सदी से अब तक अपरिवर्तित रूप में ज्यों का त्यों रखा गया है। अब जबकि हम 21वीं सदी में प्रवेश कर रहे हैं, लैंगिक अन्याय के नए रूप उभर कर सामने आ रहे हैं। आप को याद होगा कि हमने अध्याय 2 में गिरते हुए लैंगिक अनुपात यानी स्त्री-पुरुष अनुपात के बारे में चर्चा की थी। बाल लैंगिक अनुपात में तेज़ी से गिरावट जो आ रही है और बालिकाओं के विरुद्ध अव्यक्त रूप से जो सामाजिक पक्षपातपूर्ण रवैया उत्पन्न हो रहा है वह लैंगिक असमानता की नई चुनौतियाँ पेश करता है।

स्त्रियों के अधिकारों अथवा अन्य किसी भी मुद्दे पर लाया गया सामाजिक परिवर्तन सदा-सर्वदा के लिए स्थायी नहीं होता; यह लड़ाई तो बार-बार लड़नी होगी और आगे भी जारी रखनी होगी। अन्य सामाजिक मुद्दों की तरह यह संघर्ष लंबा चलेगा। भारत में नारी आंदोलन को बड़ी मुश्किल से प्राप्त किए गए अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ना होगा और नए उभरते हुए मुद्दों को भी उठाना होगा।

5.4 अन्यथा सक्षम व्यक्तियों का संघर्ष

अन्यथा सक्षम (differently abled) लोग केवल इसलिए 'अक्षम' नहीं होते कि वे शारीरिक या मानसिक रूप से 'बाधित' होते हैं, लेकिन इसलिए भी अक्षम होते हैं कि समाज कुछ इस रीति से बना है कि वह उनकी ज़रूरतों को पूरा नहीं करता। दलित आदिवासी या स्त्रियों के अधिकारों के लिए हो रहे संघर्षों को तो काफ़ी समय पहले मान्यता मिल चुकी थी मगर अन्यथा सक्षम व्यक्तियों के अधिकारों को अभी हाल ही में मान्यता मिली है। फिर भी सभी ऐतिहासिक कालों में, सभी समाजों में ऐसे लोग अवश्य रहे हैं जिन्हें अन्यथा सक्षम कहा जा सकता है। भारतीय संदर्भ में निर्योग्यता एवं विकलांगता आंदोलन के अग्रणी सक्रियतावादियों और विद्वानों में से एक हैं-अनिता घई, जिनका कहना है कि विकलांग लोगों की इस अदृश्य स्थिति की तुलना राल्फ एलिसन के *इनविजिबल मेन* की स्थिति से की जा सकती है। एलिसन का *इनविजिबल मेन* नाम का उपन्यास संयुक्त राज्य अमेरिका में रहने वाले अफ्रीकी अमरीकियों के विरुद्ध प्रजातिवाद (नस्लवाद) का एक खुला अभियोग-पत्र है।

> *"मैं एक अदृश्य व्यक्ति हूँ, समझे, केवल इसलिए कि लोग मुझे देखना ही नहीं चाहते। आप सर्कस के तमाशों में कभी-कभी धड़हीन सिर देखा करते हैं मेरी स्थिति भी लगभग वैसी ही है। ऐसा लगता है मानो मैं कड़े विद्रूपकारी दर्पणों से घिरा हूँ। जब लोग मेरे पास आते हैं तो मेरा परिवेश ही देखते हैं जो उनकी अपनी कल्पनाओं से बना है दरअसल, वे मुझे छोड़कर बाकी सब कुछ देख सकते हैं (ऐलिसन, 1952:3)।*

'अन्यथा सक्षम' शब्द विशेष रूप से अर्थगर्भित हैं क्योंकि यह इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाता है कि आम लोग 'अक्षम' शब्द का जो भाव समझते हैं उस पर प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है।

विश्वभर में निर्योग्यता/अक्षमता का जो तात्पर्य समझा जाता है उसके कुछ आम लक्षण नीचे दिए गए हैं:

- निर्योग्यता/अक्षमता को एक जैविक कमज़ोरी माना जाता है।
- जब कभी किसी अक्षम व्यक्ति के समक्ष कई समस्याएँ खड़ी होती हैं तो यह मान लिया जाता है कि ये समस्याएँ उसकी बाधा या कमज़ोरी के कारण ही उत्पन्न हुई हैं।

- अक्षम व्यक्ति को हमेशा शिकार यानी पीड़ित व्यक्ति के रूप में देखा जाता है।
- यह माना जाता है कि निर्योग्यता उस निर्योग्य व्यक्ति के अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से जुड़ी है।
- निर्योग्यता का मूल भाव ही यह दर्शा देता है कि निर्योग्य व्यक्तियों को सहायता की आवश्यकता है।

भारत में निर्योग्य, बाधित, अक्षम, अपंग, 'अंधा' और 'बहरा' जैसे विशेषणों का प्रयोग लगभग एक ही भाव को दर्शाने के लिए किया जाता है। अक्सर किसी व्यक्ति का अपमान करने के लिए उस पर इन शब्दों की बौछार कर दी जाती है। एक ऐसी संस्कृति में जहाँ शारीरिक 'पूर्णता' का आदर किया जाता हो, 'पूर्ण शरीर' न होने का अर्थ है कि उसमें कोई असामान्यता, दोष या खराबी है। 'बेचारा' जैसे विशेषणों से संबोधित करने पर तो उसकी पीड़ित परिस्थिति और भी विकट हो जाती है। ऐसी सोच का मूल कारण उस सांस्कृतिक संकल्पना में निहित है जो असमर्थ या दोषपूर्ण शरीर को दुर्भाग्य का परिणाम मानती है। नियति (भाग्य) को दोषी और निर्योग्य व्यक्ति को उसका शिकार माना जाता है। आम धारणा यह है कि विकलांगता पुराने कर्मों का फल है और उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार भारत में प्रचलित प्रमुख सांस्कृतिक विचारधारा एवं संरचना विकलांगता को आवश्यक रूप से व्यक्ति की विशेष स्थिति मानती है जिसे उस व्यक्ति को भुगतना पड़ता है। पौराणिक कथाओं में विकलांग लोगों की जो छवि चित्रित की गई है वह अत्यंत नकारात्मक है।

क्रियाकलाप 5.8

- यह पता लगाएँ कि भिन्न-भिन्न पारंपरिक या पौराणिक कथाओं में अपंग व्यक्तियों का कैसा चित्रण किया गया है। आप इस तरह के अपंग पात्रों के उदाहरण भारत में या विदेश के किसी हिस्से में प्रचलित अनेक क्षेत्रीय लोककथाओं, पौराणिक कथाओं अथवा परंपरागत कहानियों किस्सों से ले सकते हैं।
- उन लोकप्रिय कहावतों या लोकोक्तियों की एक सूची बनाएँ जिनमें अपंगों के प्रति नकारात्मक रवैया दर्शाया गया हो।

'अन्यथा सक्षम' शब्द इनमें से किसी भी अवधारणा को स्वीकार नहीं करता। 'मानसिक रूप से चुनौतीग्रस्त' (mentally challenged) 'दृष्टि बाधित' (visually impaired) और 'शारीरिक रूप से बाधित' (physically impaired) जैसे शब्दों का प्रयोग अब पुराने घिसे-पिटे नकारात्मक भाव व्यक्त करने वाले शब्दों जैसे, 'मंदबुद्धि', 'अपंग' अथवा 'लंगड़ा-लूला' आदि के स्थान पर किया जाने लगा है। विकलांग अपनी जैविक अक्षमता के कारण विकलांग नहीं होते, बल्कि समाज ही उन्हें ऐसा बनाता है।

> *हमें तो उन भव्य भवनों ने 'असक्षम' बनाया है जो हमारे प्रवेश के लिए नहीं बने हैं, जिनमें प्रवेश करने की हमें इजाज़त नहीं है और इसी के परिणामस्वरूप हम शिक्षा, रोज़गार पाने के अपने अवसरों, सामाजिक जीवन आदि के संबंध में आगे अधिकाधिक असक्षम होते जाते हैं। असक्षमता तो समाज की संरचना या विचारधारा में ही निहित है, व्यक्ति की शारीरिक दशा में नहीं (ब्रिसेनडेन 1986:176)।*

असक्षमता संबंधी सामाजिक विचारधारा का एक और भी पहलू है। असक्षमता और गरीबी के बीच एक अटूट संबंध होता है। कुपोषण, बार-बार बच्चे पैदा करने से कमज़ोर हुई माताएँ रोग-प्रतिरक्षा के अपर्याप्त कार्यक्रम, भीड़-भाड़ भरे घरों में दुर्घटनाएँ-ये सब बातें एक साथ मिलकर गरीब लोगों में असक्षमता

की ऐसी स्थिति ला देती हैं जो आसान परिस्थितियों में रहने वाले लोगों की तुलना में काफी गंभीर होती हैं। इसके अलावा असक्षमता, व्यक्ति के लिए ही नहीं बल्कि पूरे परिवार के लिए पृथक्करण और आर्थिक दबाव को बढ़ाते हुए गरीबी की स्थिति पैदा करके उसे और गंभीर बना देती हैं। इस बात में कोई संदेह नहीं कि असक्षम लोग गरीब देशों में सबसे गरीब होते हैं।

उल्लेखनीय है कि स्थिति को सुधारने के प्रयत्न स्वयं विकलांगों की ओर से ही नहीं किए गए हैं, सरकार को भी अपनी ओर से कार्यवाही करनी पड़ी जैसाकि बॉक्स 5.8 में दिखाया गया है।

अन्यथा सक्षम व्यक्तियों के प्रयत्नों से अभी हाल में ही, विकलांगता के बारे में फिर से सोचने की आवश्यकता के प्रति समाज में कुछ जागरुकता आ रही है। बॉक्स 5.9 में दी गई समाचारपत्र की रिपोर्ट से यह स्पष्ट होता है।

क्रियाकलाप 5.9

क्या आपने इकबाल फ़िल्म देखी है? अगर नहीं देखी है तो देखने की कोशिश करें। यह एक बहरे-गूंगे लड़के की कहानी है जिसमें गजब की संकल्प-शक्ति है। उसे क्रिकेट खेलने का बड़ा शौक है और अंततः वह एक बढ़िया गेंदबाज बन जाता है। फ़िल्म में केवल इकबाल के संघर्षों को ही जीवंत रूप में नहीं दिखलाया गया है, बल्कि "अन्यथा सक्षम" शब्द के अनेक संभव अर्थों को भी ठोस रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

बॉक्स 5.8

शास्त्री भवन,
नयी दिल्ली
दिनांक 15.06.2005

विषय: विकलांग व्यक्तियों के लिए निर्मित राष्ट्रीय नीति के प्रारूप पर सुझाव एवं टीका-टिप्पणी आमंत्रित

1. वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार, भारत में निर्योग्यता-ग्रस्त (विकलांग) व्यक्तियों की संख्या 2.19 करोड़ है जो देश की संपूर्ण जनसंख्या के 2.13 प्रतिशत के बराबर हैं। इनमें ऐसे सभी व्यक्ति शामिल हैं जो दृष्टि, श्रवणशक्ति, चलने-फिरने और मानसिक रूप से विकलांग हैं। विकलांगों में से 75 प्रतिशत लोग ग्रामीण इलाकों में रहते हैं।
2. विकलांग व्यक्तियों के कल्याण के लिए एक व्यापक वैधिक और संस्थागत ढाँचा पहले से ही तैयार किया जा चुका है। निर्योग्यता-ग्रस्त व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार का संरक्षण और पूर्ण सहभागिता) अधिनियम 1995 में अधिनियमित किया गया था...।
3. विकलांगताग्रस्त व्यक्तियों के पुनर्वास के लिए विभिन्न केंद्रीय सरकार के मंत्रालयों, राज्य सरकारों, संघ राज्य क्षेत्रों के प्रशासनों, नागरिक समाज के सदस्यों, विकलांगताग्रस्त व्यक्तियों के संगठनों और विकलांगताग्रस्त व्यक्तियों के कल्याण के लिए कार्यरत गैर-सरकारी संगठनों के बहुक्षेत्रीय सहयोग की अपेक्षा है जिससे कि सेवाएँ प्रदान करने के कार्य में बेहतर सहक्रिया प्राप्त की जा सके।...

निदेशक, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय,
कमरा नं. 253, ए-विंग, शास्त्री भवन,
नयी दिल्ली-110001, टेलीफैक्स-011-23383853

व्यापक शैक्षिक प्रवचनों और विचार-विमर्शों में विकलांगता को कोई मान्यता नहीं दी गई है। यह तथ्य शैक्षिक प्रणाली में विद्यमान ऐतिहासिक पद्धतियों से स्पष्ट होता है जो विकलांगता के मुद्दे को दो अलग-अलग धाराएँ बनाकर उपेक्षित करते आ रहे हैं-उनमें से एक धारा विकलांग छात्रों के लिए होती है और दूसरी बाकी सब छात्रों के लिए।

हमने इस अध्याय में यह देखा कि लिंग, जाति, जनजाति और असक्षमता जैसी संस्थाएँ किस प्रकार विषमता और अपवर्जन उत्पन्न करती हैं और उन्हें आगे भी अक्षुण्ण बनाए रखती हैं। तथापि, वे इन

बॉक्स 5.9

'विकलांग-विरोधी' न्यायालय

न्यायाधीश के पदों पर नियुक्ति के लिए विकलांग व्यक्तियों पर विचार नहीं किया जाता –इसे उच्चतर न्यायपालिका की 'अपवर्जनात्मक' नीति बताते हुए एक वरिष्ठ न्यायवेत्ता का कहना है कि विकलांगों की इस प्रकार लगातार उपेक्षा करके, न्यायपालिका एक सांविधिक अधिदेश का उल्लंघन कर रही है। "उच्च न्यायालय भवन स्वयं भी विकलांगों के अनुकूल नहीं है।" वास्तविक न्यायालय संकुल के सभी प्रवेशद्वार लंबी ऊँची सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद ही आते हैं और उनमें से किसी में ढलान नहीं है जिस पर चलकर विकलांग ऊपर पहुँच सकें, यहाँ तक कि लिफ्ट या एलिवेटर की सीमित सुविधा प्राप्त करने के लिए भी आगंतुक को कई सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं।

नगर सिविल न्यायालय की हालत तो और भी खराब है, जहाँ दुघर्टना के दावों के मामलों की सुनवाई के दौरान न्यायालय के समक्ष अभिसाक्ष्य देने के लिए अनेक विकलांग या घायल व्यक्ति आते हैं। आप वहाँ विकलांग, आहत या वृद्ध लोगों को उनके साथियों द्वारा सीढ़ियों पर चढ़ाते हुए देख सकते हैं, एक अधिवक्ता ने कहा।

द हिंदू, बुधवार 2 अगस्त 2006 की एक रिपोर्ट का अनुवाद

विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष को भी भड़काती हैं। इन्हें ऐतिहासिक तौर पर सामाजिक विज्ञानों में विषमता का भाव वर्ग, प्रजाति और हाल में, लिंग संबंधी विचारों से अभिभूत रहा है लेकिन आगे चलकर जाति और जनजाति जैसी अन्य श्रेणियों की जटिलताओं पर भी ध्यान दिया जाने लगा है। भारतीय संदर्भ में, अब जाति, जनजाति और लिंग पर यथोचित ध्यान दिया जाने लगा है। लेकिन और भी कई श्रेणियाँ बाकी हैं जिन पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है, जैसे वे श्रेणियाँ जिन्हें धर्म अथवा कुछ अन्य श्रेणियों ने मिलकर हाशिए पर डाल दिया है। धर्म और जाति, लिंग और धर्म अथवा जाति और क्षेत्र द्वारा परिभाषित समूहों जैसे कुछ अधिक जटिल संघटनों की ओर भी संभवत: निकट भविष्य में हमारा ध्यान जाएगा, जैसाकि मुस्लिम समुदाय विषयक सच्चर समिति की रिपोर्ट में दर्शाया गया है।

बॉक्स 5.10

एक ऐसे देश में जहाँ 5-14 आयु वर्ग के आधे बच्चे स्कूल के बाहर हों, वहाँ विकलांगताग्रस्त बच्चों के लिए स्थान कैसे हो सकता है, विशेष रूप से उस स्थिति में जबकि उनके लिए शिक्षा की अलग व्यवस्था करने का समर्थन किया जा रहा हो? और यदि कोई कानून या विधान बनाकर प्रत्येक विकलांग बच्चे को शिक्षा उपलब्ध कराने की आशा की भी जाए तो भी ग्रामीण माता-पिता/अभिभावक इस व्यवस्था को अपने विकलांग बच्चों के लिए स्वायत्तता प्राप्त करने में सहायक नहीं समझेंगे। वे तो शायद इस बात को अधिक पसंद करेंगे कि उन्हें कुएँ से पानी लाने का कोई बेहतर तरीका और उन्नत कृषि सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ। इसी प्रकार, किसी शहरी गंदी बस्ती में रहने वाले माता-पिता यह चाहते हैं कि शिक्षा को काम या रोज़गार की दुनिया से संबंधित होना चाहिए क्योंकि ऐसी शिक्षा उनके बच्चे की बुनियादी ज़िंदगी की गुणवत्ता को सुधार देगी।

स्रोत: *डिसएबिलिटी इन द इंडियन कांटेक्स्ट*, अनीता घई, 2003:93

क्रियाकलाप 5.10

उपर्युक्त उद्धरण को पढ़ें और विभिन्न तरीकों के बारे में चर्चा करें जिनके कारण विकलांगों की समस्याएँ सामाजिक रूप में बनी हैं।

प्रश्नावली

1. सामाजिक विषमता व्यक्तियों की विषमताओं से कैसे भिन्न है?
2. सामाजिक स्तरीकरण की कुछ विशेषताएँ बतलाइए।
3. आप पूर्वाग्रह और अन्य किस्म की राय अथवा विश्वास के बीच भेद कैसे करेंगे?
4. सामाजिक अपवर्जन या बहिष्कार क्या है?
5. आज जाति और आर्थिक असमानता के बीच क्या संबंध है?
6. अस्पृश्यता क्या है?
7. जातीय विषमता को दूर करने के लिए अपनाई गई कुछ नीतियों का वर्णन करें।
8. अन्य पिछड़े वर्ग, दलितों (या अनुसूचित जातियों) से भिन्न कैसे हैं?
9. आज आदिवासियों से संबंधित बड़े मुद्दे कौन से हैं?
10. नारी आंदोलन ने अपने इतिहास के दौरान कौन-कौन से मुख्य मुद्दे उठाए हैं?
11. हम यह किस अर्थ में कह सकते हैं कि 'असक्षमता' जितनी शारीरिक है उतनी ही सामाजिक भी?

संदर्भ ग्रंथ

बोरदयू, पियरे. 1986. 'द फॉर्म ऑफ केपिटल'. जॉन जी. रिचर्डसन द्वारा संपा. *हेंडबुक ऑफ थ्योरी एंड रिसर्च इन द सोसियोलॉजी ऑफ एजुकेशन.* से. ग्रीनवुड प्रेस. न्यूयार्क।

ब्रिसडेन, सिमन. 1986. 'इंडिपेंडेंट लीविंग एंड द मेडिकल मॉडल ऑफ डिसएबिलिटी'. *डिसएबिलिटी, हैंडीकैप एंड सोसाइटी.* से. वी. 1, नं. 2, पृष्ठ संख्या 173-78।

देशपांडे, सतीश. 2003. *कंटम्प्रेरी इंडिया: ए सोसियोलॉजिकल व्यू.* पेंगुइन बुक्स. नयी दिल्ली।

ऐलिसन, आर. 1952. *इनविज़िबल मेन.* मॉडर्न लाइब्रेरी. न्यूयार्क।

फर्नोंडिस, वॉल्टर. 1991. 'पावर एंड पावरलेसनेस: डेवलपमेंट प्रोजेक्ट्स एंड डिसप्लेसमेंट ऑफ ट्राइबल्स'. *सोशल एक्शन.* 41:243-270।

फुलर, सी. जे. संपा. 1996. *कास्ट टुडे.* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. नयी दिल्ली।

घई, अनीता. 2002. 'डिसएबिलिटी इन द इंडियन कंटेक्सट' मरियन, कोरकर. एवं टॉम, शेक्सपीयर. द्वारा संपा. *डिसएबिलिटी/पोस्टमॉडर्निटी : एमबाडीयिंग डिसएबिलिटी थ्योरी. कंटीनम.* लंदन. पृष्ठ संख्या 88-100।

घई, अनीता. 2002. 'मार्जिनलाइज़ेशन एंड डिसएबिलिटी: एक्सपीरियंसेस फ्रॉम द थर्ड वर्ल्ड'. एम. प्रेसले द्वारा संपा. *डिसएबिलिटी एंड द लाइफ कोर्स: ग्लोबल पर्सपेक्टिव्स.* से. केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस. केम्ब्रिज।

गिडिंस, एंथोनी. 2001. *सोसियोलॉजी* चौथा संस्करण. पॉलिटी प्रेस. केम्ब्रिज।

जेफरी, क्रेग. रोगर, जेफरी. एवं पेट्रीशिया, जेफरी. 2005. 'ब्रोकन ट्रेजेक्ट्रीज़ : दलित युवा मेन एंड फॉर्मल एजुकेशन'. राधिका, चोपड़ा. एवं पेट्रीशिया, जेफरी. द्वारा संपा. *एजुकेशनल रिजिम्स इन कंटम्प्रेरी इंडिया.* से. सेज पब्लिकेशंस. नयी दिल्ली।

कर्ना, जी. एन. 2001. *डिसएबिलिटी स्ट्डीज़ इन इंडिया: रेट्रोस्पेक्ट एंड प्रोस्पेक्ट्स.* ज्ञान पब्लिशिंग हाउस. नयी दिल्ली।

मेसियोनिस, जॉन जे. 1991. *सोसियोलॉजी.* प्रेंटिस-हॉल. ईगलवुड क्लिफ्स. न्यूजर्सी।

मंदर, हर्ष. 2001. *अनहर्ड वॉईसेस : स्टोरीज़ ऑफ फॉरगॉटन लाइव्स.* पेंगुइन इंडिया. नयी दिल्ली।

शाह, घनश्याम. हर्ष, मंदर. सुखदेव, थोरट. सतीश, देशपांडे. एवं अमिता, बाविसकर. 2006. *अनटचेबिलिटी इन रूरल इंडिया.* सेज पब्लिकेशंस. नयी दिल्ली।

शर्मा, उर्सुला. 1999. *कास्ट (कॉन्सेप्ट्स इन द सोशल साइंसेस सीरीज़).* ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस. बकिंघम एंड फिलाडेल्फिया।

श्रीनिवास, एम. एन. संपा. 1996. *कास्ट : इट्स मॉडर्न अवतार.* वाइकिंग पेंगुइन. दिल्ली।

जैदी, ए. एम. एवं एस. जी. जैदी. 1984. 'ए फाइट टु फिनिश'. *एनुवल रिपोर्ट ऑफ द इंडियन नेशनल कांग्रेस 1939-1940.* वॉल्यूम 11, 1936-1938; एवं 12, 1939-1946।

टिप्पणियाँ

अध्याय 6

सांस्कृतिक विविधता की चुनौतियाँ

जैसाकि आपने अध्याय 3 व 4 में पढ़ा है परिवार से लेकर बाज़ार तक की विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ लोगों को परस्पर संपर्क में ला सकती हैं, उनमें प्रबल सामूहिक पहचान स्थापित कर सकती हैं और सामाजिक संसक्ति या जुड़ाव को मजबूत बना सकती हैं। लेकिन दूसरी ओर, जैसाकि अध्याय 4 व 5 में बताया गया है, यह समान संस्थाएँ असमानता और अपवर्जन या बहिष्कार की स्रोत भी हो सकती हैं। प्रस्तुत अध्याय में आप इस सांस्कृतिक विविधता से संबंधित कुछ तनावों एवं कठिनाइयों के बारे में पढ़ेंगे। 'सांस्कृतिक विविधता' का सही-सही अर्थ क्या है और इसे चुनौती के रूप में क्यों देखा जाता है?

'विविधता' शब्द असमानताओं के बजाय अंतरों पर बल देता है। जब हम यह कहते हैं कि भारत एक महान सांस्कृतिक विविधता वाला राष्ट्र है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि यहाँ अनेक प्रकार के सामाजिक समूह एवं समुदाय निवास करते हैं। यह समुदाय सांस्कृतिक चिह्नों जैसे, भाषा, धर्म, पंथ, प्रजाति या जाति द्वारा परिभाषित किए जाते हैं। जब यह विविध समुदाय भी किसी बड़े सत्व जैसे एक राष्ट्र का भाग होते हैं तब उनके बीच प्रतिस्पर्धा या संघर्ष के कारण कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

इसी कारण से सांस्कृतिक विविधता कठोर चुनौतियाँ प्रस्तुत कर सकती हैं। कठिनाइयाँ इस तथ्य से भी उत्पन्न होती हैं कि सांस्कृतिक पहचानें बहुत प्रबल होती हैं, वे तीव्र भावावेशों को भड़का सकती हैं और अक्सर बड़ी संख्या में लोगों को एकजुट कर देती हैं। कभी-कभी सांस्कृतिक अंतरों के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक असमानताएँ भी जुड़ जाती हैं और तब स्थिति और भी जटिल हो जाती है। एक समुदाय द्वारा भुगती जा रही असमानताओं या अन्यायों को दूर करने के लिए किए गए उपाय दूसरे समुदायों में उनके प्रति विरोध को भड़का सकते हैं। स्थिति उस समय और भी बिगड़ जाती है जब नदी जल, रोजगार के अवसर या सरकारी धनराशियों जैसे दुर्लभ संसाधनों के बँटवारें का सवाल खड़ा होता है।

यदि आप नियमित रूप से समाचारपत्र पढ़ते हैं या टेलीविजन पर खबरें देखते-सुनते हैं तो आपके मन में अक्सर यह अवसादकारी भावना उत्पन्न होती होगी कि भारत का कोई भविष्य नहीं है। आपको अनेक विघटनकारी ताकतें सक्रिय रूप से अपना काम करती हुई दिखाई देती हैं जो हमारे देश की एकता एवं अखंडता को तार-तार करने पर तुली हुई हैं जैसे, सांप्रदायिक दंगे, क्षेत्रीय स्वायत्तता की माँगें, जातिगत लड़ाई-झगड़े.... आप यह सोचकर भी उद्विग्न हो उठते होंगे कि हमारी जनसंख्या के बड़े हिस्से में देशभक्ति की भावना का अभाव है और वे अपने देश भारत के भले के लिए उतनी गहराई से नहीं सोचते जितने कि आप या आपकी कक्षा के अन्य साथी सोचते हैं। लेकिन यदि आप आधुनिक भारत के इतिहास की किसी पुस्तक अथवा सांप्रदायिकता या क्षेत्रवाद जैसे मुद्दों का विवेचन करने वाली अन्य पुस्तकों (उदाहरण के लिए, ब्रास 1974) को पढ़ें तो आप जान जाएँगे कि ये समस्याएँ नयी नहीं हैं। लगभग सभी 'विभाजनकारी' समस्याएँ जो आज हैं वे स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से ही या उससे भी पहले से चली आ रही हैं। लेकिन इन सबके बावजूद, भारत एक राष्ट्र के रूप में न केवल जीवित रहा है बल्कि आज पहले से कहीं अधिक सबल राष्ट्र-राज्य के रूप में विद्यमान है।

अब जबकि आप आगे पढ़ने के लिए तैयार हैं, यह याद रखें कि इस अध्याय में ऐसी अनेक कठिन समस्याओं के बारे में विचार किया गया है जिनका उत्तर खोजना आसान नहीं है। लेकिन कुछ उत्तर अन्य उत्तरों की तुलना में ज़्यादा अच्छे हैं और देश के सच्चे नागरिक के रूप में हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम अपने ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भ की परिसीमाओं के भीतर रहते हुए यथासंभव उन समस्याओं का सर्वोत्तम समाधान निकालने की अधिकाधिक चेष्टा करें। यह भी याद रखें कि भारत में यद्यपि लोगों तथा संस्कृतियों के बीच विद्यमान विविधताएँ अनेक प्रकार की कठोर चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं फिर भी

भारत की स्थिति अन्य अधिकांश राष्ट्रों की तुलना में कुल मिलाकर काफ़ी अच्छी है। दूसरी ओर, हमारी कुछ खास कमज़ोरियाँ भी हैं। इनमें काफ़ी सुधार किया जा सकता है। इसलिए भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए हमें बहुत श्रम करना होगा....।

6.1 सांस्कृतिक समुदाय एवं राष्ट्र-राज्य

भारत में विविधता के कारण उत्पन्न बड़ी-बड़ी चुनौतियों जैसे, क्षेत्रीयता या क्षेत्रवाद, सांप्रदायिकता और जातीयता की समस्याओं पर चर्चा करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम राष्ट्र-राज्यों और सांस्कृतिक समुदायों के बीच के संबंधों को समझ लें। लोगों के लिए जाति, नृजातीय समूह, क्षेत्र या धर्म जैसी सांस्कृतिक पहचानों पर आधारित समुदायों का सदस्य होना क्यों जरूरी है? जब किसी को अपने समुदाय के प्रति कोई खतरा, अपमान या अन्याय होता दिखाई देता है तो उसकी भावनाएँ इतनी अधिक क्यों भड़क उठती हैं? इस प्रकार भड़काई गई भावनाएँ राष्ट्र-राज्य के लिए समस्याएँ क्यों पैदा कर देती हैं?

सामुदायिक पहचान का महत्त्व

इस संसार में अपना अस्तित्व सक्रिय बनाए रखने के लिए प्रत्येक मनुष्य को एक स्थायी पहचान की जरूरत होती है। मैं कौन हूँ? मैं दूसरों से अलग कैसे हूँ? अन्य लोग मुझे कैसे जानते एवं समझते हैं? मेरी आकांक्षाएँ या लक्ष्य क्या होने चाहिए? इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमारे जीवन में बचपन से लेकर आगे तक लगातार उपस्थित होते रहते हैं। हमारा समाजीकरण जिस तरीके से हुआ है या विभिन्न अर्थों में हमें हमारे निकटवर्ती परिवारों अथवा हमारे समुदाय द्वारा समाज में किस प्रकार रहना सिखाया गया है इसकी वजह से हम इनमें से अनेक प्रश्नों के उत्तर देने में सक्षम होते हैं। (अपनी ग्यारहवीं कक्षा की पाठ्यपुस्तकों में समाजीकरण विषय पर की गई चर्चा को याद करें)। समाजीकरण की प्रक्रिया काफ़ी विस्तृत एवं लंबी होती है जिसमें कुछ विशेष लोगों के साथ (जो हमारे जीवन में प्रत्यक्ष रूप से शामिल रहते हैं) लगातार संवाद, वार्तालाप और कभी-कभी संघर्ष भी होता रहता है जैसे कि हमारे माता-पिता, परिवार, नातेदार समूह एवं हमारा समुदाय। हमारा समुदाय हमें भाषा (मातृभाषा) और सांस्कृतिक मूल्य प्रदान करता है जिनके माध्यम से हम विश्व को समझते हैं। यह हमारी स्वयं की पहचान को भी सहारा देता है।

सामुदायिक पहचान, जन्म तथा अपनेपन पर आधारित होती है, न कि किसी अर्जित योग्यता या 'उपलब्धि' के आधार पर। यह 'हम क्या हैं' इस भाव की द्योतक है न कि 'हम क्या बन गए हैं'। किसी समुदाय में जन्म लेने के लिए हमें कुछ नहीं करना होता। सच तो यह है कि किसी परिवार या समुदाय अथवा देश में जन्म लेने पर हमारा कोई वश नहीं है। इस प्रकार की पहचानें 'प्रदत्त' कही जाती हैं अर्थात् ये जन्म से निर्धारित होती हैं और संबंधित व्यक्तियों की पसंद या नापसंद इसमें शामिल नहीं होती। सामाजिक जीवन का यह एक अजीब तथ्य है कि लोग उन समुदायों से संबंधित होकर अत्यंत सुरक्षित एवं संतुष्ट महसूस करते हैं जिनमें उनकी सदस्यता पूरी तरह आकस्मिक होती है। हम अक्सर ऐसे समुदाय के साथ अपनी पहचान मजबूती से स्थापित कर लेते हैं जिसकी सदस्यता के योग्य होने के लिए हमने कोई प्रयास नहीं किया, कोई परीक्षा पास नहीं की, कोई कुशलता या योग्यता प्रदर्शित नहीं की....। डॉक्टरों या वास्तुकारों को परीक्षाएँ पास करनी होती हैं और अपनी योग्यता का परिचय देना होता है, यहाँ तक कि खेलकूद में भी, एक दल की सदस्यता प्राप्त करने के लिए एक निश्चित स्तर का कौशल प्रदर्शित करना आवश्यक होता है। लेकिन हमारे परिवारों या धार्मिक अथवा क्षेत्रीय समुदायों की सदस्यता के लिए ऐसी

नहीं होती, फिर भी हमारी सदस्यता संपूर्ण होती है। वास्तव में, अधिकांश प्रदत्त पहचानें इतनी पक्की होती है कि उन्हें हिलाया नहीं जा सकता; भले ही हम उन्हें अस्वीकार करने की कोशिश करें तब भी दूसरे लोग शायद उन्हीं चिह्नों से जोड़कर हमारी पहचान करते रहेंगे।

संभवत: इस आकस्मिक, शर्त रहित अथवा लगभग अनिवारणीय तरीके से संबंधित होने के कारण ही हम अक्सर अपनी सामुदायिक पहचान से भावनात्मक रूप से इतना गहरे जुड़े होते हैं। सामुदायिक संबंधों (परिवार, नातेदारी, जाति, नृजातीयता, भाषा, क्षेत्र या धर्म) के बढ़ते हुए और परस्परव्यापी दायरे ही हमारी दुनिया को सार्थकता प्रदान करते हैं और हमें एक पहचान प्रदान करते हैं कि हम कौन हैं। इसीलिए लोग अक्सर उस समय भावुक होकर अथवा कभी हिंसापूर्वक भी अपनी प्रतिक्रिया दिखाते हैं जब उन्हें अपनी सामुदायिक पहचान को कोई खतरा दिखाई देता है।

क्रियाकलाप 6.1

हमारी पहचान को रूप प्रदान करने वाले सामुदायिक संबंधों के बढ़ते हुए दायरों को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए आप एक खेल के रूप में एक छोटा-सा सर्वेक्षण कर सकते हैं। अपने सहपाठियों या अन्य मित्रों का साक्षात्कार लीजिए। साक्षात्कार देने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इन दो प्रश्नों के उत्तर देने के लिए चार मौके दीजिए 'मैं कौन हूँ?' और 'दूसरे मेरी पहचान के बारे में क्या सोचते हैं?' इन प्रश्नों के उत्तर एक ही शब्द में या वाक्यांश में होने चाहिए; उनमें कोई नाम शामिल नहीं होने चाहिए (जैसे, आपका अपना नाम या आपके माता-पिता/अभिभावकों के नाम, अथवा आपकी कक्षा या विद्यालय आदि के नाम)। साक्षात्कार अकेले में आप ही लें अर्थात् बाद में साक्षात्कार देने वाले अन्य उम्मीदवार वहाँ उपस्थित न हों और वे आपके प्रश्नों तथा उत्तरों को सुन न सकें। प्रत्येक व्यक्ति का साक्षात्कार एक ही बार लिया जाना चाहिए (अर्थात् अलग-अलग लोग एक ही व्यक्ति का साक्षात्कार न लें)।

आप साक्षात्कार देने वालों से प्राप्त उत्तरों का अभिलेख तैयार कर लें और बाद में उनका विश्लेषण करें। किस प्रकार की पहचानों को प्रधानता दी गई? सर्वाधिक लोगों ने अपनी पहली पसंद क्या बतलाई? अक्सर अंतिम पसंद क्या थी? क्या उत्तरों के कोई विशेष स्वरूप थे? 'मैं कौन हूँ' और 'दूसरे मेरी पहचान के बारे में क्या सोचते हैं' इन दोनों प्रश्नों के उत्तरों में क्या बहुत अधिक अंतर था, थोड़ा-सा अंतर था अथवा बिल्कुल अंतर नहीं था?

प्रदत्त पहचानों और सामुदायिक भावना की एक दूसरी विशेषता यह होती है कि वे सर्वव्यापी होती है। प्रत्येक व्यक्ति की एक मातृभूमि होती है, एक मातृभाषा होती है, उसका एक परिवार होता है और निष्ठा भी होती है...। हो सकता है कि यह बात प्रत्येक व्यक्ति पर पूरी तरह लागू न होती हो पर आमतौर पर ऐसा होता है और हम सब अपनी-अपनी पहचानों के प्रति समानरूप से प्रतिबद्ध एवं वफादार होते हैं। एक बार फिर यह संभव है कि शायद हमें ऐसे लोग भी मिलें जो अपनी पहचान के किसी एक या अन्य पक्ष के लिए विशेष रूप से प्रतिबद्ध न हों। लेकिन इस प्रतिबद्धता की संभावना लगभग अधिकांश लोगों में पाई जाती है। इसी कारण, हमारे समुदायों (चाहें राष्ट्र, भाषा, धर्म, जाति या क्षेत्र विषयक) के बीच पैदा होने वाले लड़ाई-झगड़ों या विवादों को निपटाना बहुत कठिन होता है। विवाद का प्रत्येक पक्ष सामने वाले पक्ष को शत्रु मानते हुए घृणा की दृष्टि से देखता है और उसमें अपने पक्ष के गुणों को और विरोधी पक्ष के दुर्गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर कहने की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए जब दो राष्ट्रों के बीच युद्ध छिड़ जाता है तो प्रत्येक राष्ट्र के देशभक्त लोग विरोधी राष्ट्र को आक्रमणकारी शत्रु मानते हैं। प्रत्येक पक्ष यह विश्वास करता है कि हम सच्चे हैं और परमेश्वर हमारे साथ है। गरमागरमी के क्षण में दोनों ही पक्षों के लोगों के लिए यह देखना बहुत कठिन होता है कि जैसा हम दूसरों के बारे में सोचते हैं, दूसरे भी तो हमारे बारे में वैसा ही सोच रहे हैं।

यह एक सामाजिक तथ्य है कि कोई भी देश या समूह अपने नागरिकों या सदस्यों को असत्य, अन्याय अथवा असमानता के लिए संघर्ष करने को प्रोत्साहित नहीं करता अर्थात् प्रत्येक देश या समूह हमेशा सत्य, न्याय, समानता के लिए ही लड़ता है...। इसका यह अर्थ नहीं होता कि प्रत्येक संघर्ष में दोनों पक्ष सही होते हैं अथवा कोई भी सही या गलत या सच्चा नहीं होता है। कभी-कभी तो दोनों ही पक्ष वास्तव में समान रूप से गलत या सही होते हैं; और कभी-कभी इतिहास एक पक्ष को आक्रांता और दूसरे को उसका शिकार निर्धारित करता है। लेकिन ऐसा तभी होता है जब काफ़ी समय निकल जाता है और विवाद की गरमागरमी धीरे-धीरे ठंडी पड़ जाती है। लेकिन पहचान संबंधी द्वंद्व या विवाद की स्थिति में परस्पर सम्मत सच्चाई के किसी भाव को स्थापित करना बहुत कठिन होता है, आमतौर पर किसी पक्ष को यह स्वीकार करने में कि वह गलत था कई दशक बल्कि कभी-कभी तो शताब्दियाँ लग जाती हैं (बॉक्स 6.1 को देखिए)।

बॉक्स 6.1

जब 'विजेता' क्षमायाचना करते हैं

यह कोई असामान्य बात नहीं है कि युद्ध हारने वाले पक्ष को अपने गलत कार्यों के लिए क्षमा माँगने पर मजबूर होना पड़ता है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है कि विजेता पक्ष अपनी गलती के लिए स्वयं को दोषी मानता हो। हालाँकि, हाल के समय में दुनियाभर में ऐसे कई उदाहरण देखने को मिले हैं। ऐसे राष्ट्र या समुदाय, जो जीतने वाले पक्ष के साथ थे अथवा आज भी प्रभुत्वपूर्ण स्थिति में हैं यह स्वीकार करने लगे हैं कि वे अपने अतीत में, गंभीर अन्याय के लिए जिम्मेदार रह चुके हैं और अब वे पीड़ित समुदायों से माफ़ी माँग रहे हैं।

आस्ट्रेलिया में, (जहाँ की बहुसंख्यक जनसंख्या आज यूरोपीय उद्भव के गोरे लोगों की है) आस्ट्रेलियाई राष्ट्र द्वारा आधिकारिक तौर पर वहाँ के उन मूल निवासियों के वंशजों से जो बलात् उपनिवेशीकरण के शिकार हुए थे माफ़ी माँगे जाने के मुद्दे पर लंबी बहस होती रही है। आस्ट्रेलिया में, अधिकांश राज्य सरकारों ने निम्नलिखित जैसे किसी-न-किसी प्रस्ताव के रूप में वहाँ के मूलनिवासियों से क्षमायाचना की है:

> हम विभिन्न उद्भवों वाले आस्ट्रेलियावासी मेल-मिलाप की भावना से प्रेरित होकर साथ-साथ आगे बढ़ने का वचन देते हैं। हम आदिवासी और टोरेस स्ट्रेट के द्वीपवासी लोगों की अनुपम स्थिति को यहाँ के जल-थल के मूल स्वामी और अभिरक्षक के रूप में महत्त्व देते हैं।
>
> हम मानते हैं कि इस भूमि को और इसके जलीय भाग को, किसी संधि अथवा सहमति के बिना, उपनिवेश का रूप दे दिया गया था। [...] हमारे राष्ट्र में इस सच्चाई को स्वीकार करने और इससे उत्पन्न हुए घावों पर मरहम लगाने का साहस होना चाहिए ताकि हम अपनों के साथ शांतिपूर्वक रह सकें, आगे बढ़ सकें। पुराने घावों को भरने की इस प्रक्रिया में राष्ट्र का एक भाग क्षमायाचना करेगा और पुराने अन्यायों के लिए सच्चे दिल से दुःख एवं खेद प्रकट करेगा और दूसरा भाग उन क्षमायाचनाओं को स्वीकार करते हुए पहले भाग को माफ़ कर देगा। [...] और इसलिए हम यह वचन देते हैं कि हम अन्याय को समाप्त कर देंगे, असुविधाओं को दूर कर देंगे, और इस तथ्य का आदर करेंगे कि हमारे आदिवासियों और टोरेस स्ट्रेट के द्वीपवासियों को राष्ट्र के सामान्य जनजीवन के भीतर रहते हुए आत्मनिर्णय का अधिकार है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में, मूल अमेरिकी समुदाय (जो उस देश के मूल निवासी थे और युद्ध द्वारा बाहर निकाल दिए गए थे) और काले समुदाय (जो अफ्रीका से दासों के रूप में लाए गए थे) से राष्ट्रीय स्तर पर क्षमायाचना के बारे में लंबे समय से बहस चल रही है। इस विषय में अभी तक कोई सर्वसम्मति नहीं बन पाई है। *जापान* में, सरकारी नीति के अंतर्गत उन अत्याचारों के लिए माफ़ी माँगने की आवश्यकता को बहुत पहले माना जा चुका है जो जापान द्वारा युद्ध एवं उपनिवेशीकरण के समय पूर्वी एशिया के अनेक क्षेत्रों एवं देशों, विशेष रूप से कोरिया और चीन के कुछ हिस्सों में किए गए थे। इस संबंध में सबसे हाल में माफ़ी वहाँ के प्रधानमंत्री जुनिचीरो कोइजुमी द्वारा 15 अगस्त 2005 को दिए गए भाषण में है।

अतीत में, जापान ने अपने औपनिवेशिक शासन और आक्रमणों के जरिए अनेक देशों, खासतौर पर एशियाई राष्ट्रों के लोगों को भारी हानि और पीड़ा पहुँचाई है। सच्चे दिल से इन ऐतिहासिक तथ्यों को स्वीकार करते हुए, मैं एक बार फिर गहरा पश्चात्ताप करता हूँ और हृदय से क्षमायाचना करता हूँ, और देश या विदेश में युद्ध के शिकार हुए सभी लोगों के प्रति शोक प्रकट करता हूँ। मेरा यह पक्का इरादा है कि मैं उस भयंकर युद्ध से सीखे सबक को कभी मिटने नहीं दूँगा और युद्ध को सदा-सर्वदा के लिए तिलांजलि देते हुए विश्व की शांति एवं समृद्धि में योगदान दूँगा।

ऐसी ही बहस दक्षिण अफ्रीका में भी चलती रही हैं, जहाँ गोरे अल्पसंख्यक सत्ता में रहे और स्थानीय काले बहुसंख्यकों के प्रति पाशविक अत्याचार करते रहे। ब्रिटेन में भी इस विषय पर सार्वजनिक रूप से चर्चा होती रही है कि क्या राष्ट्र उपनिवेशवाद और दास प्रथा को बढ़ावा देने में अपनी भूमिका के लिए माफ़ी माँगे। दिलचस्प बात यह है कि दास प्रथा के मुद्दे पर विभिन्न शहरों में भी चर्चा हुई है: उदारहण के लिए ब्रिस्टल के पत्तन शहर में इस बात पर बहस छिड़ी कि क्या वहाँ की नगर परिषद् को एक ऐसा प्रस्ताव पारित करना चाहिए जिससे दास व्यापार में ब्रिस्टल द्वारा अदा की गई भूमिका के लिए माफ़ी माँगी जाए।

स्रोत: http://en.wikipedia.org/wiki/Bringing_Them_Home#Apologies
http://www.kantei.go.jp/foreign/koizumispeech/2005/08/15danwa_e.html

क्रियाकलाप 6.2

बॉक्स 6.1 को सावधानीपूर्वक पढ़ें। इस तरह की क्षमायाचनाओं से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? आखिरकार जो असली शिकार और वास्तविक शोषणकर्त्ता या आततायी थे वे तो बहुत पहले ही मर चुके होंगे, अब न तो पीड़ितों को मुआवजा दिया जा सकता है और न ही उन्हें पीड़ा पहुँचाने वालों को दंड। तो फिर ये क्षमायाचनाएँ किस कारण से की जा रही हैं या उन पर बहस करने का क्या फ़ायदा है?

क्या आप कोई और उदाहरण सोच सकते हैं जहाँ अनाम साधारण लोगों को (यानी ऐसे लोगों को जो प्रसिद्ध या शक्तिशाली नहीं थे) जो अब जिंदा नहीं रहे, सार्वजनिक रूप से याद किया जाता है या सम्मानित किया जाता है? उदाहरण के लिए, दिल्ली में स्थित इंडिया गेट जैसे स्मारकों से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? (यह स्मारक किसको समर्पित है? यदि आप नहीं जानते तो पता लगाने की कोशिश करें)।

बॉक्स 6.1 में उल्लिखित क्षमायाचना के बारे में भारतीय संदर्भ में सोचें। यदि आपको ऐसी किसी क्षमायाचना का प्रस्ताव करना हो तो आपके विचार में राष्ट्र के रूप में हमें किन समूहों या समुदायों से माफ़ी माँगनी चाहिए? इस प्रश्न पर कक्षा में चर्चा करने और सर्वसम्मति पर पहुँचने की कोशिश करें। माफ़ी के विभिन्न अभ्यर्थी समूहों के पक्ष तथा विपक्ष में क्या-क्या दलीले दी जाएँ?

कक्षा में हुई चर्चा के बाद ऐसी 'क्षमायाचनाओं' के बारे में आपकी राय में क्या कोई बदलाव आया है?

समुदाय, राष्ट्र एवं राष्ट्र-राज्य

सरल शब्दों में कहा जाए तो राष्ट्र एक तरह का बड़े स्तर का समुदाय ही होता है, यह समुदायों से मिलकर बना एक समुदाय है। राष्ट्र के सदस्य एक ही राजनीतिक सामूहिकता का हिस्सा बनने की इच्छा रखते हैं। राजनीतिक एकता की यह इच्छा स्वयं को एक राज्य बनाने की आकांक्षा के रूप में अभिव्यक्त होती है। अपने सर्वाधिक सामान्य भाव में राज्य शब्द का अर्थ एक ऐसा अमूर्त सत्व होता है जिसमें राजनीतिक-विधिक

क्रियाकलाप 6.3

क्या, यह वास्तव में सच है कि ऐसी कोई विशिष्टता नहीं है जो प्रत्येक राष्ट्र में पाई जाती हो। उन संभावित कसौटियों या विशिष्टताओं की सूची बनाएँ जो एक राष्ट्र को परिभाषित कर सकती हैं। ऐसी प्रत्येक कसौटी (यानी मानदंड) के लिए ऐसे राष्ट्रों के उदाहरणों की एक सूची बनाएँ जो उस कसौटी पर खरे उतरते हों और साथ ही उन राष्ट्रों की भी सूची बनाएँ जो उस कसौटी का उल्लंघन करते हों। मान लीजिए कि आपने यह कसौटी तय की है कि प्रत्येक राष्ट्र के पास एक नियमित अटूट भौगोलिक क्षेत्र के रूप में अपना एक प्रदेश होना ही चाहिए, तो फिर इस कसौटी के आधार पर निम्नलिखित मामलों पर विचार करें। [प्रत्येक देश या क्षेत्र को विश्व के मानचित्र पर खोजें; आपको प्रत्येक मामले में सर्वप्रथम कुछ अनुसंधान भी करना होगा...]।

- अलास्का और संयुक्त राज्य अमेरिका
- 1971 से पहले का पाकिस्तान (पश्चिमी पाकिस्तान+पूर्वी पाकिस्तान)
- मालदीव/फाकलैंड द्वीप समूह और यूनाइटेड किंगडम
- आस्ट्रिया और जर्मनी
- इक्वेडोर, कोलंबिया, वेनेजुएला
- यमन, सऊदी अरब, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात

[संकेत: पहले तीन मामले एक ही राष्ट्र के भौगोलिक दृष्टि से दूरस्थ प्रदेशों के उदाहरण हैं; अंतिम तीन मामले ऐसे देशों के उदाहरण हैं जिनका राज्यक्षेत्र साथ-साथ जुड़ा है, उनकी एक साझी भाषा और संस्कृति हैं फिर भी वे अलग-अलग राष्ट्र-राज्य हैं]।

■ क्या आप इन उदाहरणों की सूची में कुछ और नाम जोड़ सकते हैं?

संस्थाओं के समुच्चय समाहित होते हैं और वह एक खास भौगोलिक क्षेत्र पर और उसमें रहने वाले लोगों पर अपना नियंत्रण रखता है। मैक्स वेबर की सुप्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार, राज्य "एक ऐसा निकाय होता है जो एक विशेष क्षेत्र में विधिसम्मत एकाधिकार का सफलतापूर्ण दावा करता है" (वेबर 1970:78)।

राष्ट्र एक अनूठे किस्म का समुदाय होता है जिसका वर्णन तो आसान है पर इसे परिभाषित करना कठिन है। हम ऐसे अनेक विशिष्ट राष्ट्रों का वर्णन कर सकते हैं जिनकी स्थापना साझे – धर्म, भाषा, नृजातीयता, इतिहास अथवा क्षेत्रीय संस्कृति जैसी साझी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक संस्थाओं के आधार पर की गई है। लेकिन किसी ऐसे पारिभाषिक लक्षणों को निर्धारित करना अथवा उन विशेषताओं का पता लगाना कठिन है जो एक राष्ट्र में होनी ही चाहिए। प्रत्येक संभव कसौटी के लिए अनेक अपवाद और विरोधी उदाहरण पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, ऐसे बहुत से राष्ट्र हैं जिनकी अपनी एक साझा या सामान्य भाषा, धर्म, नृजातीयता आदि नहीं हैं। दूसरी ओर ऐसी अनेक भाषाएँ, धर्म या नृजातियाँ हैं जो कई राष्ट्रों में पाई जाती हैं। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह सभी मिलकर एक एकीकृत राष्ट्र का निर्माण करते हैं उदाहरण के लिए, सभी अंग्रेज़ी भाषी लोग या सभी बौद्धधर्मावलंबी।

तब हम एक राष्ट्र और अन्य प्रकार के समुदायों जैसे, एक नृजातीय समूह (जो सामान्य भाषा या संस्कृति के अलावा एक ही वंशपरंपरा पर आधारित हों), धार्मिक समुदाय अथवा क्षेत्रीय आधार पर परिभाषित समुदाय आदि के बीच कैसे भेद कर सकते हैं? संकल्पना की दृष्टि से तो कोई पक्का भेद दिखाई नहीं देता, अन्य प्रकार का कोई भी समुदाय किसी दिन एक राष्ट्र बन सकता है। विलोमत: किसी भी विशेष प्रकार के समुदाय के लिए यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि वह राष्ट्र का रूप ग्रहण कर लेगा।

राष्ट्र का अंतर या भेद दर्शाने वाली सबसे नजदीकी कसौटी राज्य है। पहले बताए गए अन्य प्रकार के समुदायों के विपरीत, राष्ट्र ऐसे समुदाय होते हैं जिनका अपना एक राज्य होता है। इसीलिए ये दोनों राष्ट्र-राज्य शब्द के रूप में योजक-चिह्न से जुड़े होते हैं। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि हाल के समय में राष्ट्र और राज्य के बीच 'एकैक' (एक-एक का) संबंध है। (एक राष्ट्र, एक राज्य; एक राज्य, एक राष्ट्र)। लेकिन यह एक नया विकास है। पहले यह बात सच नहीं थी कि एक अकेला राज्य केवल एक ही राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर सकता था यानी एक ही राष्ट्र का द्योतक था या प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक राज्य होना जरूरी था। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ ने अपने अस्तित्व काल में यह स्पष्ट रूप से मान रखा था कि जिन लोगों पर उसका शासन था वे विभिन्न 'राष्ट्रों' के थे और उसने एक सौ से भी अधिक आंतरिक राष्ट्रीयताओं को मान्यता दे रखी थी। इसी प्रकार, एक राष्ट्र को अस्तित्व प्रदान करने वाले लोग हो सकता है विभिन्न राज्यों के नागरिक या निवासी हों। उदाहरण के लिए, संपूर्ण जमैकाइयों (जमैकावासियों) में से जमैका से बाहर रहने वालों की संख्या, जमैका के भीतर रहने वाले जमैकाइयों से अधिक है यानी 'अनिवासी' जमैकाइयों की संख्या 'निवासी' जमैकाइयों की जनसंख्या से अधिक है। 'दोहरी नागरिकता' संबंधी कानून एक अलग उदाहरण प्रस्तुत करता है। ये कानून किसी राज्य विशेष के नागरिकों को एक ही समय में एक दूसरे राज्य का नागरिक बनने की इजाज़त देते हैं। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, यहूदी जाति के अमेरिकी लोग एक साथ इजराइल और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों के नागरिक हो सकते हैं; यहाँ तक कि वे इन दोनों में से किसी भी एक देश की सशस्त्र सेनाओं में दूसरे देश की नागरिकता खोए बगैर सेवा कर सकते हैं।

बॉक्स 6.2

सामुदायिक पहचानों के डर से राज्यों द्वारा सांस्कृतिक विविधता को मिटाने की कोशिश

ऐतिहासिक तौर पर राज्यों ने राष्ट्र निर्माण की रणनीतियों के माध्यम से अपनी राजनीतिक वैधता को स्थापित करने और उसे और ज़्यादा बढ़ाने के प्रयत्न किए हैं। उन्होंने आत्मसात्करण और एकीकरण की नीतियों के जरिए अपने नागरिकों की देशभक्ति, निष्ठा और आज्ञाकारिता प्राप्त करने के प्रयास किए हैं। इन उद्देश्यों को प्राप्त करना खासतौर पर सांस्कृतिक विविधता के संदर्भ में आसान नहीं था क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में नागरिक अपने देश के साथ अपनत्व रखने के साथ-साथ संभवत: अपने नृजातीय, धार्मिक, भाषाई अथवा अन्य किसी प्रकार के समुदाय के साथ भी गहरा तादात्म्य रखते हैं।

अधिकांश राज्यों को यह डर था कि इस अंतर को मान्यता प्रदान किए जाने से सामजिक विखंडन की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी और समरसतापूर्ण समाज के निर्माण में रुकावट आएगी। संक्षेप में, इस प्रकार की पहचान संबंधी राजनीति राज्य की एकता के लिए खतरा समझी गई। इसके अलावा, इस प्रकार के अंतरों का समायोजन करना

राजनीतिक दृष्टि से चुनौतीपूर्ण होता है, इसलिए अनेक राज्यों ने इन विविध पहचानों को राजनीतिक स्तर पर दबाया या नज़रअंदाज़ किया।

आत्मसात्करण की नीतियाँ, जिनके अंतर्गत अक्सर नृजातीय, धार्मिक या भाषाई समूहों की पहचानों को एकदम दबा दिया जाता है, समूहों के बीच पायी जाने वाली सांस्कृतिक विभिन्नताओं को मिटाने की कोशिश करती हैं। एकीकरण की नीतियाँ केवल एक अकेली राष्ट्रीय पहचान बनाए रखना चाहती हैं जिसके लिए वे सार्वजनिक तथा राजनीतिक कार्यक्षेत्रों से नृजातीय-राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विभिन्नताओं को दूर करने का प्रयत्न करती है लेकिन निजी क्षेत्रों में इन्हें बनाए रखने की इजाजत देती है। ये दोनों प्रकार की नीतियों के समुच्चय एक अकेली राष्ट्रीय पहचान को अपनाते हैं।

आत्मसात्करणवादी और एकीकरणवादी रणनीतियाँ विभिन्न अंत:क्षेपी उपायों द्वारा एकल राष्ट्रीय पहचान स्थापित करने की कोशिश करती हैं जैसे:

- संपूर्ण शक्ति को ऐसे मंचों में केंद्रित करना जहाँ प्रभावशाली समूह बहुसंख्यक हों और स्थानीय या अल्पसंख्यक समूहों की स्वायत्तता को मिटाना;
- प्रभावशाली समूह की परंपराओं पर आधारित एक एकीकृत कानून एवं न्याय व्यवस्था को थोपना और अन्य समूहों द्वारा प्रयुक्त वैकल्पिक व्यवस्थाओं को खत्म कर देना;
- प्रभावशाली समूह की भाषा को ही एकमात्र राजकीय 'राष्ट्रभाषा' के रूप में अपनाना और उसके प्रयोग को सभी सार्वजनिक संस्थाओं में अनिवार्य बना देना;
- प्रभावशाली समूह की भाषा और संस्कृति को राष्ट्रीय संस्थाओं के जरिए, जिनमें राज्य नियंत्रित जनसंपर्क के माध्यम और शैक्षिक संस्थाएँ शामिल हैं, बढ़ावा देना;
- प्रभावशाली समूह के इतिहास, शूरवीरों और संस्कृति को सम्मान प्रदान करने वाले राज्य प्रतीकों को अपनाना, राष्ट्रीय पर्व, छुट्टी या सड़कों आदि के नाम निर्धारित करते समय भी इन्हीं बातों का ध्यान रखना;
- अल्पसंख्यक समूहों और देशज लोगों से जमीनें, जंगल एवं मत्स्य क्षेत्र छीनकर, उन्हें 'राष्ट्रीय संसाधन' घोषित कर देन.

स्रोत: संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की मानव विकास रिपोर्ट 2004, अध्याय 3, फीचर 3.1 से यथोचित परिवर्तनों के साथ उद्धृत

संक्षेप में, आज किसी राष्ट्र को परिभाषित करना बहुत कठिन है और इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि राष्ट्र एक ऐसा समुदाय होता है जो अपना राज्य प्राप्त करने में सफल हो गया है। दिलचस्प बात तो यह है कि इसके विपरीत रूप भी अधिकाधिक सच हो गए हैं। जिस प्रकार आज भावी अथवा आकांक्षी राष्ट्रीयताएँ अपना राज्य बनाने के लिए अधिकाधिक प्रयत्नशील हैं, वैसे ही मौजूदा राज्य यह दावा करना ज़्यादा-से-ज़्यादा ज़रूरी मान रहे हैं कि वे एक राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। आधुनिक युग (आपकी कक्षा ग्यारहवीं की पाठ्यपुस्तक *समाज का बोध* के अध्याय 4 में आधुनिकता पर की गई चर्चा को याद करें) का एक विशिष्ट लक्षण है राजनीतिक वैधता के प्रमुख स्रोतों के रूप में लोकतंत्र और राष्ट्रवाद की स्थापना। इसका अर्थ यह है कि आज एक राज्य के लिए 'राष्ट्र' एक सर्वाधिक स्वीकृत अथवा औचित्यपूर्ण आवश्यकता है, जबकि 'लोग' राष्ट्र की वैधता के चरम स्रोत हैं। दूसरे शब्दों में, राज्यों को राष्ट्र की उतनी ही या उससे भी अधिक 'आवश्यकता' होती है जितनी कि राष्ट्रों को राज्यों की।

लेकिन, जैसाकि हमने पूर्ववर्ती पैराग्राफ़ों में देखा है एक राज्य-राष्ट्र और समुदाय के उन विविध रूपों के बीच, जिन पर राज्य-राष्ट्र आधारित हो सकता है ऐतिहासिक दृष्टि से कोई निश्चित और तार्किक आवश्यक संबंध नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रश्न का कोई पूर्व-निर्धारित उत्तर नहीं है:

राष्ट्र–राज्य के 'राज्य' भाग को उन विभिन्न प्रकारों के समुदायों के साथ कैसे बर्ताव करना चाहिए जो 'राष्ट्र' भाग को बनाते हैं? जैसाकि बॉक्स 6.2 में दिखाया गया है (जो कि संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की संस्कृति एवं लोकतंत्र विषय पर 2004 की एक रिपोर्ट पर आधारित है), अधिकांश राज्य आमतौर पर सांस्कृतिक विविधता के प्रति शंकालु रहे हैं और उन्होंने उसे कम करने या मिटाने की कोशिशें की हैं। तथापि अनेक सफल उदाहरण हैं, जिनमें भारत भी एक है जो यह दर्शाते हैं कि विभिन्न प्रकार की सामुदायिक पहचानों को एक मानक प्रकार में 'समरूप' किए बिना भी एक मजबूत राष्ट्र–राज्य बनना पूरी तरह संभव है।

बॉक्स 6.2 में 'आत्मसात्करणवादी' और 'एकीकरणवादी' नीतियों का उल्लेख किया गया है। आत्मसात्करण को बढ़ावा देने वाली नीतियों का उद्देश्य सभी नागरिकों को एक समान सांस्कृतिक मूल्यों और मानकों को अपनाने के लिए राजी, प्रोत्साहित या मजबूर करना है। यह मूल्य तथा मानक आमतौर पर संपूर्ण रूप से या अधिकांशत: प्रभावशाली सामाजिक समूह के होते हैं। समाज में अन्य अप्रभावशाली अथवा अधीनस्थ बनाए गए समूहों से यह आशा अथवा अपेक्षा की जाती है कि वे अपने सांस्कृतिक मूल्यों को छोड़ दें और निर्धारित मूल्यों को अपना लें। एकीकरण को बढ़ावा देने वाली नीतियाँ शैली की दृष्टि से तो अलग होती हैं पर उनका सर्वोपरि उद्देश्य भिन्न नहीं होता, वे इस बात पर बल देती हैं कि सार्वजनिक संस्कृति को सामान्य राष्ट्रीय स्वरूप तक सीमित रखा जाए, जबकि सभी 'गैर–राष्ट्रीय' संस्कृतियों को निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया जाए। इस मामले में भी प्रभावशाली समूहों की संस्कृति को 'राष्ट्रीय संस्कृति' माने जाने का खतरा रहता है ।

अब तक आप लोग संभवत: यह जान गए होंगे कि आखिर समस्या क्या है। समुदाय के किसी विशिष्ट रूप और राज्य के आधुनिक रूप के बीच कोई संबंध होना आवश्यक नहीं है। सामुदायिक पहचान के बहुत से आधारों (जैसे, भाषा, धर्म, नृजाति आदि) में से कोई एक आधार राष्ट्र को स्वरूप प्रदान कर सकता है अथवा नहीं भी कर सकता है, इस बात की कोई गारंटी नहीं है। लेकिन, चूँकि सामुदायिक पहचानें राष्ट्र निर्माण के आधार के रूप में कार्य कर सकती हैं इसलिए पहले से विद्यमान राज्य सभी प्रकार की सामुदायिक पहचानों को खतरनाक प्रतिद्वंद्वी के रूप में देखते हैं। इसीलिए राज्य आमतौर पर किसी एक समरूप राष्ट्रीय पहचान का इसलिए पक्ष लेते हैं कि वे उसका नियंत्रण एवं प्रबंध कर सकेंगे। किंतु, सांस्कृतिक विविधता का दमन करना बहुत महँगा पड़ सकता है क्योंकि इससे उन अल्पसंख्यक अथवा अधीनस्थ समुदायों का अलगाव हो जाता है जिनकी संस्कृति को 'गैर–राष्ट्रीय' मान लिया जाता है। इसके अलावा कोई भी दमनकारी कार्य सामुदायिक पहचान को और गहरा बनाने का विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है इसलिए सांस्कृतिक विविधता को प्रोत्साहित करना अथवा कम–से–कम उसे बनाए रखना व्यावहारिक तथा सिद्धांताश्रित दोनों ही दृष्टिकोणों से अच्छी नीति है।

सांस्कृतिक विविधता एवं भारतीय राष्ट्र-राज्य - एक विहंगम दृष्टि

भारतीय राष्ट्र–राज्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व के सर्वाधिक विविधतापूर्ण देशों में से एक हैं। इसकी जनसंख्या लगभग 102.9 करोड़ है। जनसंख्या की दृष्टि से विश्वभर में इसका स्थान दूसरा है और जल्दी ही यह पहला स्थान प्राप्त करने वाला है। यहाँ के एक अरब (सौ करोड़) से ज़्यादा लोग कुल मिलाकर लगभग 1,632 भिन्न–भिन्न भाषाएँ और बोलियाँ बोलते हैं। इन भाषाओं में से अठारह भाषाओं को आधिकारिक रूप से मान्यता देकर उन्हें संविधान की आठवीं अनुसूची में स्थान दिया गया है, इस प्रकार उन्हें विधिक प्रतिष्ठता की गारंटी दी गई है। जहाँ तक धर्म का सवाल है, यहाँ

कि 80.5% आबादी हिन्दुओं की है, जो स्वयं भी क्षेत्रीय रूप से तरह-तरह के विश्वासों और व्यवहारों तथा जातियों एवं भाषाओं की दृष्टि से बँटे हुए हैं। लगभग 13.4% आबादी मुसलमानों की है जिसकी बदौलत भारत विश्व में इंडोनेशिया तथा पाकिस्तान के बाद तीसरा सबसे बड़ा मुसलमान देश है। अन्य प्रमुख धार्मिक समुदायों में ईसाई (2.3%), सिख (1.9%), बौद्ध (0.8%) और जैन (0.4%) हैं। भारत की विशाल जनसंख्या के कारण ये छोटे-छोटे प्रतिशतांश भी मिलकर बड़ी संख्याएँ बना सकते हैं।

सामुदायिक पहचानों के साथ राष्ट्र-राज्य के संबंधों की दृष्टि से भारत की स्थिति न तो आत्मसात्करणवादी और न ही एकीकरणवादी की है जिसके बारे में बॉक्स 6.2 में बताया गया है। अपने प्रारंभ से ही स्वतंत्र भारतीय राज्य में आत्मसात्करणवादी नीति को नहीं माना गया है। तथापि ऐसे प्रारूप के लिए प्रभावशाली बहुसंख्यक हिंदू समुदाय के कुछ वर्गों की ओर से इसकी माँग की जाती रही है। हालाँकि, 'राष्ट्रीय एकीकरण' को राज्य की नीति में लगातार महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा है, लेकिन भारत कभी उस रूप में एकीकरणवादी नहीं रहा जैसाकि बॉक्स 6.2 में बताया गया है। संविधान में यह घोषणा की गई है कि भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य होगा पर धर्म, भाषा और अन्य ऐसे कारकों को सार्वजनिक क्षेत्र में पूरी तरह निष्कासित नहीं किया गया है। सच तो यह है कि राज्य द्वारा इन समुदायों को व्यक्त रूप से मान्यता दी गई है। अंतर्राष्ट्रीय मानकों की दृष्टि से मापा जाए तो अल्पसंख्यक धर्मों को अत्यंत प्रबल संवैधानिक सुरक्षा प्रदान की गई है। आमतौर पर भारत में समस्या यह रही है कि यहाँ कानूनों या सिद्धांतों की तो कोई कमी नहीं रही बल्कि उनके पालन या व्यवहार में थोड़ी कसर रही है। लेकिन कुल मिलाकर भारत को 'राज्य-राष्ट्र' का एक अच्छा उदाहरण माना जा सकता है, यद्यपि यह राष्ट्र-राज्यों के समक्ष उपस्थित होने वाली समस्याओं से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं है।

बॉक्स 6.3

राष्ट्रीय एकता के साथ सांस्कृतिक विविधता: एक लोकतांत्रिक 'राज्य-राष्ट्र' का निर्माण

तब, राष्ट्र-राज्य का एक विकल्प है: "राज्य-राष्ट्र" जहाँ नृजातीय, धार्मिक, भाषाई या देशज पहचानों पर आधारित विभिन्न "राष्ट्र" एक अकेली राज्य व्यवस्था के अंतर्गत शांति और सहयोगपूर्वक एक साथ रह सकते हैं।

वैयक्तिक अध्ययन और विश्लेषण यह दर्शाते हैं कि बहुसांस्कृतिक राज्यव्यवस्थाओं में स्थायी, सहनशील लोकतंत्रों की स्थापना की जा सकती है। विविध समूहों के सांस्कृतिक अपवर्जन (बहिष्कार) को खत्म करने... और बहुविध तथा पूरक पहचानों का निर्माण करने के लिए स्पष्ट प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। ऐसी प्रतिसंवेदी नीतियाँ विविधता में एकता का निर्माण करने के लिए, 'हम' भाव जागृत करने के लिए प्रोत्साहन देती हैं। नागरिक अपने देश तथा अपनी अन्य सांस्कृतिक पहचानों के साथ तादात्म्य स्थापित करने, साझी संस्थाओं में अपना विश्वास बनाने और लोकतांत्रिक राजनीति में भाग लेने तथा उसे समर्थन देने के लिए संस्थाओं तथा राजनीति में अवसर प्राप्त कर सकते हैं। ये सभी लोकतंत्रों को मजबूत और गहरा बनाने तथा सहनशील 'राज्य-राष्ट्रों' का निर्माण करने के प्रमुख कारक हैं।

भारत के संविधान में इस अभिधारणा को स्थान दिया गया है। यद्यपि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से विविधतापूर्ण राष्ट्र है पर लंबे समय से चल रहे लोकतंत्रों, जिनमें भारत भी एक है, का तुलनात्मक सर्वेक्षण

यह दर्शाता है कि अपनी विविधताओं के बावजूद यह एक अत्यंत सशक्त लोकतंत्र है। लेकिन आधुनिक भारत संपूर्ण देश पर एक अकेली हिंदू पहचान को थोपने के लिए उत्सुक समूहों के उत्थान के साथ, बहुविध एवं पूरक पहचानों को दिए गए संवैधानिक वचनों के प्रति गंभीर चुनौती का सामना कर रहा है। आज भारत में यह खतरे समावेश के भाव को क्षति पहुँचाते हैं और अल्पसंख्यकों के अधिकारों का उल्लंघन करते हैं। हाल में जो सांप्रदायिक हिंसा की घटनाएँ हुई हैं उनसे भविष्य में सामाजिक मेल-मिलाप की भावनाओं के प्रति गहरी चिंताएँ खड़ी होती हैं और देश के द्वारा पहले प्राप्त की गई उपलब्धियों को ठेस पहुँचाने का खतरा पैदा होता है।

और ये उपलब्धियाँ थोड़ी नहीं काफ़ी अधिक हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत के संवैधानिक स्वरूप में भिन्न-भिन्न समूहों के दावों को मान्यता देते हुए अनुकूल प्रतिक्रिया दिखलाई है और अनेक क्षेत्रीय, भाषाई और सांस्कृतिक विविधता के बावजूद राज्य व्यवस्था को संगठित बनाए रखा है। जैसाकि तदात्मीकरण (पहचान), विश्वास और समर्थन के सूचकों के विषय में भारत के कार्य-निष्पादन से पता चलता है (चार्ट 1) इसके नागरिक देश के विविधतापूर्ण और अत्यंत स्तरबद्ध समाज के बावजूद, देश तथा लोकतंत्र के लिए गंभीरतापूर्वक प्रतिबद्ध है। जब भारतीय लोकतंत्र के कार्य-निष्पादन की तुलना अन्य लंबे समय से स्थापित एवं संचालित और अधिक संपन्न लोकतंत्रों से की जाती है तो भारत का कार्य-निष्पादन विशेष रूप से प्रभावोत्पादक नजर आता है।

भारत के सामने चुनौती इसलिए है कि उसने लोकतांत्रिक तरीकों से बहुलवाद, संस्थागत समायोजन और द्वंद्व समाधान की परिपाटियों में अपनी प्रतिबद्धता को उत्साहपूर्वक दोहराया है। एक बहुसांस्कृतिक लोकतंत्र के निर्माण के लिए राष्ट्र निर्माण के ऐतिहासिक प्रयासों की कमज़ोरियों को स्वीकार करना और बहुविध तथा पूरक पहचानों के लोगों को मान्यता देना बहुत ज़रूरी है। पहचान, विश्वास और सर्मथन के माध्यम से समाज के सभी समूहों में समाज के प्रति निष्ठा की भावना जागृत करने के प्रयत्न भी महत्त्वपूर्ण हैं। राष्ट्रीय संसक्ति यह अपेक्षा नहीं करती कि कोई एक अकेली पहचान सब पर थोप दी जाए और विविधता की निंदा की जाए। राज्य-राष्ट्रों के निर्माण की सफल रणनीतियाँ इस विविधता को रचनात्मक रीति से सांस्कृतिक मान्यता की प्रतिसंवेदी नीतियाँ बनाकर समायोजित कर सकती हैं और करती भी हैं। वे राजनीतिक स्थिरता और सामाजिक समरसता (मेल-मिलाप) के दीर्घकालीन उद्देश्यों को सुनिश्चित करने के प्रभावोत्पादक समाधान हैं।

स्रोतः संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की मानव विकास रिपोर्ट 2004, अध्याय 3, फीचर 3.1 से यथोचित परिवर्तनों के साथ उद्धृत

चार्ट 1: सांस्कृतिक विविधताओं का परिपालन भारतीय राज्य में विश्वास को सुदृढ़ बनाता है

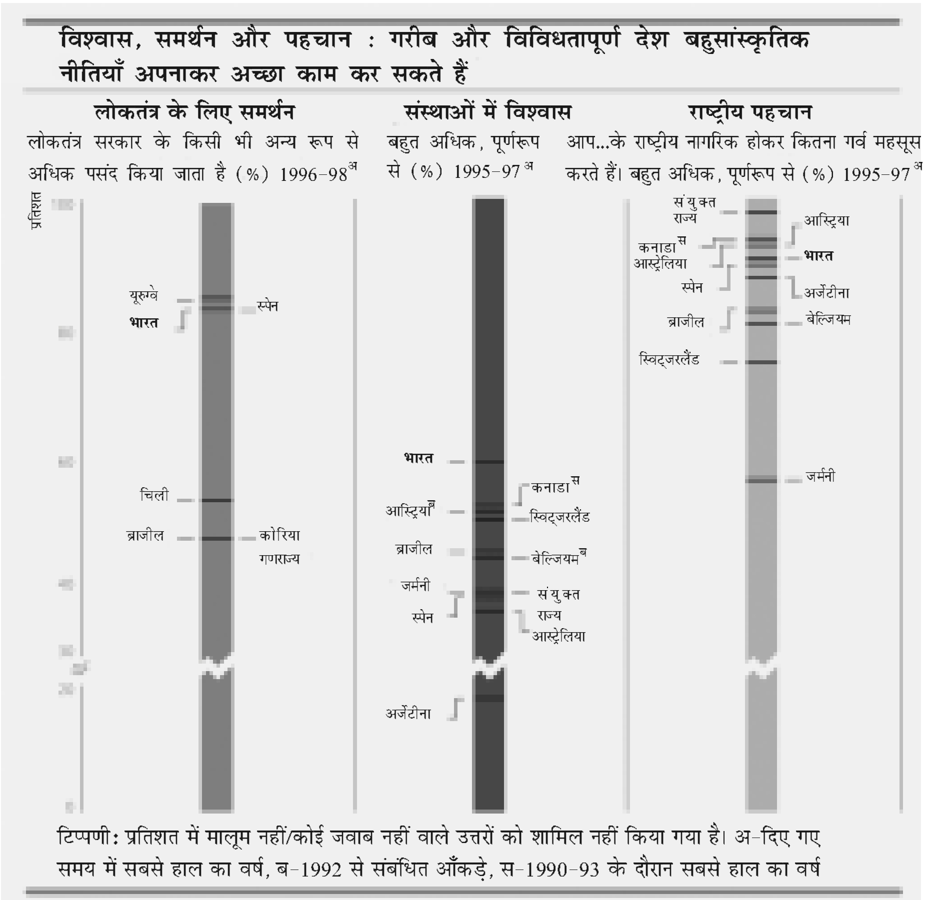

स्रोतः संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की मानव विकास रिपोर्ट 2004, अध्याय 3, फीचर 3.1 चित्र 2

6.2 भारतीय संदर्भ में क्षेत्रवाद

भारत में क्षेत्रवाद भारत की भाषाओं, संस्कृतियों, जनजातियों और धर्मों की विविधता के कारण पाया जाता है। इसे विशेष क्षेत्रों में पहचान चिह्नकों के भौगोलिक संकेंद्रण के कारण भी प्रोत्साहन मिलता है और क्षेत्रीय वंचन (deprivation) का भाव अग्नि में घी का काम करता है। भारतीय संघवाद इन क्षेत्रीय भावुकताओं को समायोजित करने वाला एक साधन है (भट्टाचार्य 2005)।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, प्रारंभ में भारतीय राज्य ने ब्रिटिश-भारतीय व्यवस्था को ही अपनाए रखा जिसके अंतर्गत भारत बड़े-बड़े प्रांतों में, जिन्हें 'प्रेसीडेंसी' भी कहा जाता था, बँटा हुआ था। (मद्रास, बंबई और कलकत्ता तीन बड़ी प्रेसिडेंसियाँ थीं; प्रसंगवश हाल में इन तीनों शहरों के नाम जिनके नाम पर प्रेसिडेंसियों के नाम थे बदल दिए गए हैं)। यह बड़े-बड़े बहुनृजातीय और बहुभाषी प्रांतीय राज्य थे जो भारत संघ कहे जाने वाले अर्द्धसंघीय राज्य की बड़ी-बड़ी राजनीतिक प्रशासनिक इकाइयों के रूप में काम

करते थे। उदाहरण के लिए, पुराना बंबई राज्य (जो बंबई प्रेसीडेंसी का ही दूसरा नाम था) मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं कोंकणी बोलने वाले लोगों का बहुभाषी राज्य था। इसी प्रकार, मद्रास राज्य तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम बोलने वाले लोगों से मिलकर बना था। ब्रिटिश भारतीय सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रशासित प्रेसीडेंसियों और प्रांतों के अलावा संपूर्ण भारत में अनेक देशी राजाओं की रियासतें या रजवाड़े थे। इनमें मैसूर, कश्मीर और बड़ौदा के देशी राज्य अपेक्षाकृत बड़े थे। लेकिन संविधान को स्वीकार किए जाने के तुरंत बाद औपनिवेशिक काल की इन सभी इकाइयों को तीव्र लोक आंदोलनों के कारण भारत संघ के भीतर नृजातीय-भाषाई राज्यों के रूप में पुनर्गठित करना पड़ा (बॉक्स 6.4 को देखिए)।

इस प्रकार, धर्म ने नहीं बल्कि भाषा ने क्षेत्रीय तथा जनजातीय पहचान के साथ मिलकर भारत में नृजातीय-राष्ट्रीय पहचान बनाने के लिए एक अत्यंत सशक्त साधन का काम किया है। किंतु इसका यह

बॉक्स 6.4

भाषायी राज्यों ने भारतीय एकता को मज़बूत करने में सहायता दी

राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट, जो 1 नवंबर 1956 को कार्यांवित की गई थी, ने राष्ट्र के राजनीतिक और सांस्थानिक जीवन के रूपांतरण में सहायता दी।

राज्य पुनर्गठन आयोग की पृष्ठभूमि यहाँ दी जा रही है। 1920 के दशक में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भाषाई आधार पर पुनर्गठित की गई। अब इसकी प्रांतीय इकाइयों ने भाषाई आधार का अनुसरण किया, जैसे, एक मराठी बोलने वालों के लिए, दूसरी उड़िया बोलने वालों के लिए आदि-आदि। इसी समय, गाँधीजी तथा देश के अन्य नेताओं ने अपने अनुयायियों को वचन दिया कि जब स्वतंत्रता मिल जाएगी तब नया राष्ट्र भाषाओं के अनुसार नए राज्यों के आधार पर पुनर्गठित किया जाएगा।

किंतु विडंबना यह रही कि जब भारत को 1947 में अंततः स्वतंत्र किया गया तो उसके साथ ही उसका विभाजन भी कर दिया गया। फिर जब भाषाई राज्यों के प्रस्तावकों ने नेताओं से अपने वचन पूरे करने के लिए कहा तो कांग्रेस ने हिचकिचाहट दिखलाई। देश का विभाजन अपने विश्वास के साथ गहरे लगाव का परिणाम था; इस प्रकार भाषा, गहरी निष्ठा न जाने कितने और बँटवारे करवा देगी? ऐसी विचारधारा उस समय के चोटी के कांग्रेसी नेताओं नेहरू, पटेल, और राजाजी आदि के मन में रही।

दूसरी ओर, सभी छोटे-बड़े कांग्रेसी नेता भाषाओं के आधार पर भारत का नया नक्शा तैयार करने पर तुले हुए थे। मराठी और कन्नड़ भाषाएँ बोलने वालों ने इसके लिए प्रबल आंदोलन छेड़ दिए; यह लोग उस समय की अनेक राजनीतिक रियासतों में फैले हुए थे। जैसे, तत्कालीन बंबई और मद्रास की प्रेसीडेंसियों और भूतपूर्व देसी राजाओं की रियासतें जैसे, मैसूर और हैदराबाद। लेकिन सबसे अधिक उग्रतापूर्ण विरोध बहुत बड़े तेलुगु भाषी समुदाय की ओर से किया गया जिनकी जनसंख्या बहुत बड़ी थी। अक्तूबर 1953 में एक पूर्व गाँधीवादी नेता पोट्टि श्रीरामुलु इस मुद्दे को लेकर आमरण अनशन पर बैठ गए और सात सप्ताह बाद उनकी मृत्यु हो गई। पोट्टि श्रीरामुलु के बलिदान ने हिंसात्मक विरोधों को भड़का दिया; परिणामस्वरूप आंध्र प्रदेश राज्य की स्थापना करनी पड़ी। इसके अलावा, राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना करनी पड़ी। जिसने 1956 में भाषा आधारित सिद्धांत के अनुमोदन पर औपचारिक, अंतिम मोहर लगा दी।

1950 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू समेत अनेक नेताओं को यह डर था कि भाषा आधारित राज्य कहीं भारत के उप-विभाजन की प्रक्रिया को और तेज़ न कर दें। लेकिन तथ्य तो यह है कि इसका उल्टा ही घटित हुआ। भाषा आधारित राज्यों ने भारतीय एकता को कोई ठेस नहीं पहुँचाई बल्कि उसे और भी मजबूत करने में सहयोग दिया। कन्नडिंग और भारतीय, बंगाली और भारतीय, तमिल और भारतीय, गुजराती और भारतीय... दोनों साथ-साथ होना पूर्ण रूप से संगत साबित हुआ।

लेकिन यह भी सच है कि भाषा पर आधारित ये राज्य कभी-कभी आपस में लड़ते हैं। हालाँकि ये विवाद अच्छे नहीं होते पर यह और भी ज्यादा खराब हो सकते थे। उसी 1956 के वर्ष में जब राज्य पुनर्गठन आयोग ने भाषाई आधार पर भारत का नया नक्शा तैयार करने के समादेश दिया, सीलोन (जिसे अब श्रीलंका कहते हैं) की संसद ने उत्तर के तमिल भाषी नागरिकों के भारी विरोध के बावजूद सिंहली को एकमात्र राजभाषा के रूप में घोषित कर दिया। एक वामपंथी सिंहली सांसद ने तो उग्रराष्ट्रवादियों को भविष्यवाणी के रूप में यह चेतावनी दे डाली: "एक भाषा, दो राष्ट्र" और "दो भाषाएँ, एक राष्ट्र"।

सन् 1983 से श्रीलंका में जो गृहयुद्ध छिड़ा हुआ वह कुछ हद तक बहुसंख्यक भाषाई समूह द्वारा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की उपेक्षा किए जाने का ही परिणाम है। भारत के अन्य पड़ोसी राज्य पाकिस्तान का 1971 में विभाजन हो गया क्योंकि इसके पश्चिमी भाग के पंजाबी और उर्दू भाषी लोग पूर्वी भाग के बंगालियों की भावनाओं का आदर नहीं करना चाहते थे।

लेकिन भारत में भाषाई राज्यों के निर्माण के बदौलत ही भारत को ऐसी किसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का सामना नहीं करना पड़ा। यदि भारतीय भाषाई समुदायों की भावनाओं की उपेक्षा की जाती तो शायद हमारे यहाँ भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती: "एक भाषा, चौदह या पंद्रह राष्ट्र"।

स्रोत: दिनांक 1 नवंबर 2006 के टाइम्स ऑफ़ इंडिया, दैनिक में प्रकाशित रामचंद्र गुहा के लेख से यथोचित परिवर्तनों के साथ उद्धृत

मतलब नहीं है कि सभी भाषाई समुदायों को राज्यत्व प्राप्त हो गया। उदाहरण के लिए, सन् 2000 में तीन नए राज्यों अर्थात् छत्तीसगढ़, उत्तरांचल और झारखंड के निर्माण में भाषा ने कोई प्रमुख भूमिका अदा नहीं की, बल्कि जनजातीय पहचान, भाषा, क्षेत्रीय वंचन और पारिस्थितिकी पर आधारित नृजातीयता ने मिलकर तीव्र क्षेत्रीयता को आधार प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप नए राज्यों की स्थापना हुई। भारतीय राष्ट्र-राज्य में, इस समय 28 **राज्य** (संघीय इकाइयाँ) और 7 संघ राज्यक्षेत्र (केंद्रीय रूप से प्रशासित) हैं।

टिप्पणी: इस अध्याय में जहाँ 'राज्य' शब्द का प्रयोग मोटे अक्षरों में किया गया है वहाँ यह भारतीय राष्ट्र-राज्य के अंतर्गत आने वाली एक संघीय इकाई का द्योतक है; जहाँ सामान्य अक्षरों में इसे लिखा गया है वहाँ यह ऊपर वर्णित बृहत संकल्पना श्रेणी के तहत प्रयोग किया गया है।

क्षेत्रीय भावनाओं को आदर देना मात्र ही राज्य निर्माण के लिए काफ़ी नहीं है, बल्कि इसके लिए एक ऐसा संस्थागत ढाँचा होना भी जरूरी है जो यह सुनिश्चित कर सके कि वह एक बड़े संघीय ढाँचे के

1880 से 1930 के दौरान विभिन्न क्षेत्रों के दंपती: सबसे ऊपर बाएँ कोने से: गुजरात; त्रिपुरा; मुंबई; अलीगढ़; हैदराबाद; गोवा; कोलकाता।

स्रोत: मालविका कारलेकर द्वारा संपा. विजुवलाइजिंग इंडियन वीमन 1875-1947, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली से

अंतर्गत एक स्वायत्त इकाई के रूप में चल सकता है। भारत में यह कार्य **राज्यों** तथा केंद्र की शक्तियों को परिभाषित करने वाले संवैधानिक उपबंधों द्वारा किया गया है। भारत के संविधान में शासन संबंधी विषयों या कार्यों की सूची होती है जिनकी जिम्मेदारी खासतौर पर **राज्य** या केंद्र की होती है, इसके साथ ही अन्य क्षेत्रों की 'समवर्ती सूची' भी दी गई है जहाँ दोनों को ही कार्य संचालन की अनुमति है। जिनके बारे में **राज्य** और केंद्र दोनों ही कार्य कर सकते हैं। **राज्य** विधानमंडल संसद के ऊपरी सदन, राज्यसभा के गठन को निर्धारित करते हैं। इसके अलावा, कुछ आवधिक समितियाँ और आयोग हैं, जो केंद्र-**राज्य** संबंधों को निश्चित करते हैं। इसका एक उदाहरण वित्त आयोग है जिसे दस साल में, केंद्र और **राज्यों** के बीच राजस्व का बँटवारा करने के लिए स्थापित किया जाता है। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में भी **राज्यों** की विस्तृत योजनाएँ शामिल होती हैं जो हर **राज्य** के राज्य योजना आयोगों द्वारा तैयार की जाती हैं।

कुल मिलाकर संघीय प्रणाली काफी अच्छी तरह चलती रही है हालाँकि, इसमें कई विवादास्पद मुद्दे भी रहे हैं। उदारीकरण के युग से (यानी 1990 से) ही, बढ़ती हुई अंतर-क्षेत्रीय आर्थिक एवं आधारभूत ढाँचे से संबंधित असमानताएँ नीति-निर्माताओं, राजनीतिज्ञों और विद्वानों के लिए चिंता का विषय बनी हुई हैं। चूँकि आर्थिक विकास में निजी पूँजी निवेश (विदेशी और भारतीय दोनों) को अधिक बड़ी भूमिका सौंपी गई है, इसलिए क्षेत्रीय समदृष्टि के तत्त्वों को कम महत्त्व मिला है। यह इसलिए होता है क्योंकि निजी निवेशकर्त्ता आमतौर पर पहले से विकसित ऐसे **राज्यों** में पूँजी लगाना चाहते हैं जहाँ आधारभूत ढाँचा तथा अन्य सुविधाएँ बेहतर हों। निजी उद्योग के विपरीत, सरकार केवल अपने मुनाफ़ों को अधिक-से-अधिक बढ़ाने की बजाय, क्षेत्रीय समदृष्टि (और अन्य सामाजिक लक्ष्यों) को कुछ महत्त्व दे सकती है। इसलिए यदि बाजार अर्थव्यवस्था को छोड़ दिया जाए तो वह विकसित तथा पिछड़े क्षेत्रों के बीच विद्यमान अंतर को बढ़ा देती है। मौजूदा प्रवृत्तियों को बदलने के लिए जनता की पहल की आवश्यकता होगी।

क्रियाकलाप 6.4

अपने **राज्य** के उद्‌भव के बारे में पता लगाएँ। यह कब बनाया गया था? इसे परिभाषित करने की मुख्य कसौटियाँ क्या थीं? क्या वह भाषा, नृजातीय/जनजातीय पहचान, क्षेत्रीय वंचन, पारिस्थितिक अंतर अथवा कोई अन्य कसौटी थी? भारतीय राष्ट्र-राज्य के अंतर्गत पाए जाने वाले अन्य **राज्यों** से इसकी तुलना कैसे की जा सकती है?

भारत के सभी **राज्यों** का, उनके निर्माण की कसौटी के आधार पर वर्गीकरण करने का प्रयास करें।

क्या आप वर्तमान में चल रहे किन्हीं सामाजिक आंदोलनों से परिचित हैं जो एक **राज्य** के निर्माण की माँग कर रहे हैं? इन आंदोलनों द्वारा प्रयोग की जा रही कसौटियों का पता लगाने की कोशिश करें।

[संकेत: तेलंगाना और विदर्भ आंदोलनों और आप के अपने क्षेत्र में चल रहे किसी आंदोलन पर विचार करें...]

6.3 राष्ट्र-राज्य एवं धर्म से संबंधित मुद्दे और पहचानें

सांस्कृतिक विविधता के सभी पक्षों में शायद धार्मिक समुदायों और धर्म-आधारित पहचानों के मुद्दे सबसे अधिक विवादास्पद हैं। इन मुद्दों को मोटे तौर पर दो संबंधित समूहों—धर्मनिरपेक्षता एवं सांप्रदायिकता और अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक—के अंतर्गत बाँटा जा सकता है। धर्मनिरपेक्षता और सांप्रदायिकता के प्रश्न, राज्य के धर्म और उन राजनीतिक समूहों के साथ संबंधों के बारे में होते हैं जो धर्म को अपनी प्राथमिक पहचान मानते हैं। अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों के बारे में प्रश्न उन निर्णयों से संबंधित होते हैं कि राज्य विभिन्न धार्मिक, नृजातीय या अन्य समुदायों के साथ, जो संख्या और/या शक्ति (सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति सहित) की दृष्टि से असमान हैं, के साथ कैसा बर्ताव करता है।

अल्पसंख्यकों के अधिकार और राष्ट्र-निर्माण

भारतीय राष्ट्रवाद में प्रभावशाली प्रवृत्ति समावेशात्मक और लोकतंत्रात्मक दृष्टि द्वारा चिह्नित रही। इस दृष्टि को समावेशात्मक इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें विविधता और बहुलता को मान्यता दी जाती रही है और लोकतंत्रात्मक इसलिए क्योंकि यह भेदभाव और अपवर्जन को नकारती है और एक न्यायपूर्ण एवं साम्यिक (उचित) समाज की स्थापना करती है। 'लोग' शब्द को अपवर्जक दृष्टि से, धर्म, नृजातीय, प्रजाति या जाति द्वारा परिभाषित किसी विशेष समूह के प्रसंग से नहीं देखा गया है। मानवतावादी विचारों ने भारतीय राष्ट्रवादियों को प्रभावित किया और अपवर्जनात्मक राष्ट्रवाद के कुरूप पक्षों पर महात्मा गांधी और रवींद्रनाथ टैगोर जैसे अग्रणी महानुभावों द्वारा व्यापक रूप से टीका-टिप्पणी की गई।

बॉक्स 6.5

अपवर्जनात्मक राष्ट्रवाद की बुराइयों के बारे में रवींद्रनाथ टैगोर के विचार

...जहाँ पाश्चात्य राष्ट्रवाद की भावना का बोलबाला हो, तो सभी लोगों को बचपन से ही घृणा करना और महत्त्वाकांक्षाओं का पोषण करना तमाम तरीकों से सिखाया जाता है जैसे, इतिहास में अर्धसत्यों और असत्यों को गढ़कर, अन्य प्रजातियों के बारे में लगातार मिथ्यानिरूपण करके और उनके प्रति प्रतिकूल भावनाओं की संस्कृति बनाकर... कभी क्षणभर के लिए भी यह न सोंचे कि जो चोट आप दूसरी प्रजातियों को पहुँचाते हैं, वह आपको प्रभावित नहीं करेगी, अथवा जो वैमनस्य के बीज आप अपने घरों के चारों ओर बोते हैं, वे आने वाले संपूर्ण समय के लिए रक्षा की दीवार बनकर आपकी रक्षा करेंगे? संपूर्ण जनसमुदाय के मन में अपनी श्रेष्ठता का असामान्य दंभ भरना, अपनी नैतिक निर्दयता और गलत तरीकों से जमा की गई दौलत पर गर्व करना सिखाना, युद्ध के जरिए जीते गए विजयोपहारों के प्रदर्शन द्वारा विजित राष्ट्रों को सदैव अपमानित करना और बच्चों के मन में दूसरों के प्रति अवमानना के भाव भरने के लिए इन विद्यालयों का इस्तेमाल करना पश्चिम की नकल करना है जहाँ मानवता के घावों से सड़ांध आ रही है...

स्रोत: ऑन नेशनल्जिम, रवींद्रनाथ टैगोर, 1917, पुन:मुद्रण, 1930, मैकमिलन, मद्रास

समावेशात्मक राष्ट्रवाद को प्रभावी बनाने के लिए, तत्संबंधी विचारधारा को संविधान में स्थान देना पड़ा। इसका कारण है, जैसाकि (अनुभाग 6.1 में) पहले ही चर्चा की जा चुकी है, प्रभावशाली समूह में यह मानकर चलने की अत्यंत प्रबल प्रवृत्ति होती है कि उनकी संस्कृति या भाषा अथवा धर्म राष्ट्र-राज्य की संस्कृति, भाषा या धर्म के समान है। किंतु एक मजबूत और लोकतंत्रात्मक राष्ट्र के लिए सभी समूहों और विशेष रूप से अल्पसंख्यक समूहों के अधिकारों को सुनिश्चित करने वाले संवैधानिक प्रावधानों की आवश्यकता होती है। अल्पसंख्यकों की परिभाषा के बारे में एक संक्षिप्त चर्चा हमें एक सबल, संयुक्त और लोकतंत्रात्मक राष्ट्र के लिए अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के महत्त्व को समझने में सक्षम बनाती है।

अल्पसंख्यक समूहों की धारणा का समाजशास्त्र में व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है एवं इसका सिर्फ़ एक संख्यात्मक विशिष्टता के अलावा और ज़्यादा महत्त्व है-इसमें आमतौर पर असुविधा या हानि का कुछ भाव निहित है। अत: विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यकों जैसे, अत्यंत धनवान लोगों को आमतौर पर अल्पसंख्यक नहीं कहा जा सकता; और यदि उल्लेख करना ही हो तो उनके साथ कोई विशेषक जोड़ दिया जाता है, जैसे 'विशेषाधिकारप्राप्त अल्पसंख्यक'। जब अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग विशेषक के बिना किया जाता है तो सामान्यत: इसका अभिप्राय अपेक्षाकृत छोटे लेकिन साथ ही सुविधावंचित समूह से होता है। अल्पसंख्यक शब्द का समाजशास्त्रीय भाव यह भी है कि अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्य एक सामूहिकता

का निर्माण करते हैं, यानी उनमें अपने समूह के प्रति एकात्मता, एकजुटता और उससे संबंधित होने का प्रबल भाव होता है। यह भाव हानि अथवा असुविधा से जुड़ा है, क्योंकि पूर्वाग्रह और भेदभाव का शिकार होने का अनुभव आमतौर पर अपने ही समूह के प्रति निष्ठा और दिलचस्पी की भावनाओं को बढ़ावा देता है (गिडिंस 2001:248)। इसलिए, जो समूह सांख्यिकीय दृष्टि से अल्पसंख्यक हों जैसे, बाएँ हाथ से खेलने या लिखने वाले लोग या 29 फरवरी को जन्मे लोग, समाजशास्त्रीय अर्थ में अल्पसंख्यक नहीं होते, क्योंकि वे किसी सामूहिकता का निर्माण नहीं करते।

हालाँकि, कुछ ऐसे असामान्य उदाहरण भी लिए जा सकते हैं जहाँ कोई अल्पसंख्यक समूह किसी एक अर्थ में तो सुविधावंचित कहा जा सकता है लेकिन दूसरे अर्थ में नहीं। इसलिए, उदाहरण के लिए, पारसियों या सिक्खों जैसे धार्मिक अल्पसंख्यक वर्ग आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत संपन्न हो सकते हैं लेकिन वे फिर भी सांस्कृतिक अर्थ में सुविधावंचित हो सकते हैं क्योंकि हिंदुओं की विशाल जनसंख्या की तुलना में उनकी संख्या कम है। बहुसंख्यक वर्ग के जनसांख्यिकीय प्रभुत्व के कारण धार्मिक अथवा सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों को विशेष संरक्षण की आवश्यकता होती है। लोकतंत्रात्मक राजनीति में संख्यात्मक बहुमत को चुनावों के जरिए राजनीतिक शक्ति में संपरिवर्तित कर लेना सदा संभव होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि धार्मिक अथवा सांस्कृतिक अल्पसंख्यक वर्ग राजनीतिक दृष्टि से कमज़ोर होते हैं भले ही उनकी आर्थिक या सामाजिक स्थिति कैसी भी हो। उन्हें यह जोखिम तो उठाना ही होगा कि बहुसंख्यक समुदाय राजनीतिक शक्ति को हथिया लेगा और उनकी धार्मिक या सांस्कृतिक संस्थाओं को दबाने के लिए राज्यतंत्र का दुरुपयोग करेगा और अंततोगत्वा उन्हें अपनी अलग पहचान छोड़ देने के लिए मजबूर कर देगा।

बाएँ कोने पर कश्मीरी पोशाक में सजी बच्ची, दाएँ कोने में भारत के विभिन्न हिस्सों के व्यंजन, नीचे विभिन्न भारतीय राज्यों की पोशाकों में सजी गुड़ियाएँ

बॉक्स 6.6

धार्मिक अल्पसंख्यकों का तुलनात्मक आकार और वितरण

जैसाकि सर्वविदित है, भारत में हिंदुओं का बहुमत अत्यधिक है: 2001 की जनगणना के अनुसार उनकी आबादी लगभग 82.8 करोड़ है जो देश की संपूर्ण जनसंख्या का 80.5% है। हिंदुओं की जनसंख्या सभी अन्य अल्पसंख्यक धर्मावलंबियों की सम्मिलित जनसंख्या से लगभग चार गुना बड़ी है और सबसे बड़े अल्पसंख्यक समूह यानी मुसलमानों से लगभग छह गुना बड़ी है।

लेकिन यह तथ्य भ्रामक भी सिद्ध हो सकता है क्योंकि हिंदू लोग एक समजातीय समूह नहीं हैं बल्कि वे अनेक जातियों में बँटे हैं। वैसे अन्य सभी प्रमुख धर्मों में भी भिन्न-भिन्न सीमा तक जातियाँ होती हैं। अब तक मुसलमान समुदाय ही भारत में सबसे बड़ा धार्मिक अल्पसंख्यक वर्ग है, सन् 2001 में उनकी संख्या 13.8 करोड़ यानी संपूर्ण जनसख्या का 13.4% थी। वे देश में सर्वत्र फैले हुए हैं; जम्मू और कश्मीर में वे बहुसंख्यक हैं और पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, केरल, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और राजस्थान में उनके काफ़ी बड़े आंतर निवास हैं।

ईसाइयों की जनसंख्या 2.4 करोड़ यानी संपूर्ण जनंसख्या का 2.3% है और वे सर्वत्र फैले हुए हैं, अलबत्ता पूर्वोत्तर और दक्षिणी राज्यों में उनके आंतर निवास काफ़ी बड़े हैं। तीनों ईसाई बहुल राज्य पूर्वोत्तर क्षेत्र में स्थित हैं-नागालैंड (90%), मिजोरम (87%), मेघालय (70%)। गोवा (27%) और केरल (19%) में भी काफ़ी बड़ी संख्या में ईसाई लोग रहते हैं।

सिख धर्मावलंबियों की जनसंख्या 1.9% (1.9 करोड़) है। वैसे तो वे देश के सभी भागों में फैले हुए हैं पर उनका विशेष जमाव पंजाब में है जहाँ वे बहुसंख्यक (60%) हैं।

इसके अलावा, और भी अन्य छोटे-छोटे धार्मिक समूह हैं—बौद्ध (80 लाख, 0.8%), जैन (40 लाख, 0.4%) और 'अन्य धर्म एवं संप्रदाय' (70 लाख, 0.7%)। बौद्धों का सर्वाधिक अनुपात सिक्किम (28%) और अरुणाचल प्रदेश (13%) में है, जबकि बड़े राज्यों में से महाराष्ट्र में बौद्धों का अनुपात सर्वाधिक 6% है। जैनों का सर्वाधिक अनुपात महाराष्ट्र (1.3%), राजस्थान (1.2%) और गुजरात (1%) में पाया जाता है।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष के लंबे वर्षों में, भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारत की विविधता को मान्यता और आदर देने की अनिवार्य आवश्यकता को समझा। वास्तव में, 'विविधता में अनेकता' का मुहावरा भारतीय समाज के बहुल एवं विविध स्वरूप को समझने का एक सूत्र बन गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अनेक विचार-विमर्श पूर्ण सत्रों में अल्पसंख्यकों और सांस्कृतिक अधिकारों पर अनेक चर्चाएँ हुई और अंततोगत्वा भारतीय संविधान में उन्हें अभिव्यक्ति मिली (ज़ैदी 1984)।

बॉक्स 6.7

अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने के विषय में डा. अंबेडकर के विचार

उन कट्टरपंथियों को, जिनके मन में अल्पसंख्यकों के संरक्षण के विरुद्ध एक तरह का दुराग्रह घर कर गया है, मैं दो बातें कहना चाहता हूँ। एक यह कि अल्पसंख्यक वर्ग एक ऐसी विस्फोटक शक्ति है जो यदि भड़क उठे तो राज्य की संपूर्ण रचना को तार-तार कर देगी। यूरोप का इतिहास इस तथ्य का ठोस एवं भयावह साक्ष्य प्रस्तुत करता है। दूसरी बात यह है कि भारत के अल्पसंख्यक अपने अस्तित्व को बहुसंख्यकों के हाथों में सौंपने के लिए सहमत हुए हैं। आयरलैंड के विभाजन को रोकने के लिए चली बातचीत के इतिहास में, रेडमंड ने कारसन से कहा, "आप प्रोटेस्टैंट अल्पसंख्यक के लिए चाहे जो सुरक्षा माँग लें, हमें आयरलैंड को संयुक्त, अविभाजित रखना है।" कारसन का उत्तर था: "लानत है तुम्हारी सुरक्षा पर, हम तुम्हारे द्वारा शासित होना ही नहीं चाहते।" भारत में अल्पसंख्यकों के किसी भी वर्ग ने यह रुख नहीं अपनाया।

[जॉन रेडमंड, बहुसंख्यक कैथोलिक के नेता, सर एडवर्ड कारसन, अल्पसंख्यक प्रोटेस्टेंट के नेता]

स्रोत: संविधान सभा के वाद विवाद 1950:310-311, नारंग 2002:63 से उद्धृत

भीमराव रामजी अंबेडकर
(1891-1956)

बौद्ध धर्म के पुन: प्रवर्तक, विधिवेत्ता, विद्वान एवं राजनीतिक नेता भीमराव अंबेडकर भारतीय संविधान के प्रमुख शिल्पकार हैं। इनका जन्म एक गरीब अस्पृश्य समुदाय में हुआ था। इन्होंने अपना जीवन अस्पृश्यता और जाति व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने में लगा दिया।

भारतीय संविधान के निर्माता यह जानते थे कि एक सुदृढ़ एवं संयुक्त राष्ट्र का निर्माण तभी संभव होगा जब जनता के सभी वर्गों को अपने धर्म का पालन करने और अपनी संस्कृति तथा भाषा का विकास करने की स्वतंत्रता होगी। भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पकार डा. भीमराव अंबेडकर ने इस बिंदु को संविधान सभा में स्पष्ट किया, जैसाकि बॉक्स 6.7 में दर्शाया गया है।

पिछले तीन दशकों में हमने देखा है कि किसी देश में विभिन्न समूहों के लोगों के अधिकारों को मान्यता न दिए जाने से राष्ट्रीय एकता के लिए कितने गंभीर परिणाम हो सकते हैं। बांग्लादेश के निर्माण के अनेक मुद्दों में से एक प्रमुख मुद्दा पाकिस्तानी राज्य की बांग्लादेश के लोगों के सांस्कृतिक तथा भाषाई अधिकारों को मान्यता देने की अनिच्छा था। श्रीलंका में नृजातीय संघर्ष के कारणभूत अनेक विवादास्पद मुद्दों में एक था, सिंहली भाषा को एक राष्ट्रीय

बॉक्स 6.8

अल्पसंख्यकों एवं सांस्कृतिक विविधता पर भारतीय संविधान के अनुच्छेद

अनुच्छेद 29:

(1) भारत के राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी अनुभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा।

(2) राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 30:

(1) धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक-वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।

(2) शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक-वर्ग के प्रबंध में है।

क्रियाकलाप 6.5

ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब एक संदर्भ में जो 'बहुसंख्यक' होते हैं वह किसी दूसरे संदर्भ में 'अल्पसंख्यक' बन जाते हैं या इसका विलोम भी हो सकता है।

इस स्थिति के कुछ ठोस उदाहरणों का पता लगाएँ और उसके निहितार्थों पर चर्चा करें।

याद रहे कि एक अल्पसंख्यक वर्ग की समाजशास्त्रीय संकल्पना में केवल तुलनात्मक संख्या ही नहीं बल्कि शक्ति भी सम्मिलित होती है।

(सुझाव: रंग-भेद नीति के इस्तेमाल होने से पहले और बाद में दक्षिण अफ्रीका में गोरे लोग; कश्मीर में हिंदू; गुजरात में मुसलमान; हिंदुओं में उच्च जातियाँ; पूर्वोत्तर में जनजातीय लोग)

भाषा के रूप में थोपा जाना। इसी प्रकार, भारत में भी किसी भाषा या धर्म को किसी भी समूह पर ज़ोर-जबरदस्ती से थोपा जाना राष्ट्रीय एकता को कमजोर करता है जो विभिन्नताओं की मान्यता पर आधारित है। भारतीय राष्ट्रवाद इसे मान्यता देता है और भारतीय संविधान इसकी परिपुष्टि करता है (बॉक्स 6.8)।

अंत में, इस तथ्य को दृष्टिगत रखना उपयोगी है कि अल्पसंख्यक अकेले भारत में ही नहीं, सर्वत्र पाए जाते हैं। अधिकांश राज्य-राष्ट्रों में, एक प्रभावशाली सामाजिक समूह होता है चाहे वह सांस्कृतिक, नृजातीय, प्रजातीय अथवा धार्मिक हो। विश्व में कहीं भी ऐसा कोई राष्ट्र-राज्य नहीं है जो अन्य रूप में एक समरूप सांस्कृतिक समूह से बना हो। यहाँ तक कि जहाँ ऐसा काफ़ी हद तक सच था (जैसे, आइसलैंड, स्वीडन या दक्षिण कोरिया जैसे देशों में), वहाँ भी आधुनिक पूँजीवाद, उपनिवेशवाद और बड़े पैमाने पर हुए प्रवसन के कारण समूहों की बहुविधता पाई जाने लगी है। यहाँ तक की सबसे छोटे राज्य में भी अल्पसंख्यक पाए जाते हैं चाहे वह धार्मिक, नृजातीय, भाषाई अथवा प्रजातीय आधार पर हों।

सांप्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता एवं राष्ट्र-राज्य

सांप्रदायिकता

रोज़मर्रा की भाषा में '**सांप्रदायिकता** या संप्रदायवाद' का अर्थ है धार्मिक पहचान पर आधारित आक्रामक उग्रवाद। उग्रवाद, अपने आप में एक ऐसी अभिवृत्ति है जो अपने समूह को ही वैध या श्रेष्ठ समूह मानती है और अन्य समूहों को निम्न, अवैध अथवा विरोधी समझती है। इसी बात को और सरल शब्दों में कहें तो सांप्रदायिकता एक आक्रामक राजनीतिक विचारधारा है जो धर्म से जुड़ी होती है। यह एक अनूठा भारतीय अथवा शायद दक्षिण एशियाई अर्थ है जो साधारण अंग्रेज़ी शब्द के भाव से भिन्न है। अंग्रेज़ी भाषा में, 'कम्युनल' (communal) शब्द का अर्थ है व्यक्ति की बजाय समुदाय (यानी कम्युनिटी) या सामूहिकता से जुड़ा हुआ (व्यक्ति, भाव, विचार आदि)। अंग्रेज़ी अर्थ तटस्थ है जबकि दक्षिण एशियाई अर्थ प्रबल रूप से आवेशित है। इस आवेश को सकारात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है, यदि देखने वाला सांप्रदायिकता के प्रति सहानुभूति रखता हो अथवा नकारात्मक दृष्टि से भी, यदि देखने वाला इस का विरोधी हो।

इस बात पर बल देना ज़रूरी है कि सांप्रदायिकता राजनीति से सरोकार रखती है धर्म से नहीं। यद्यपि संप्रदायवादी धर्म के साथ गहन रूप से जुड़े होते हैं, पर वास्तव में व्यक्तिगत विश्वास और संप्रदायवाद

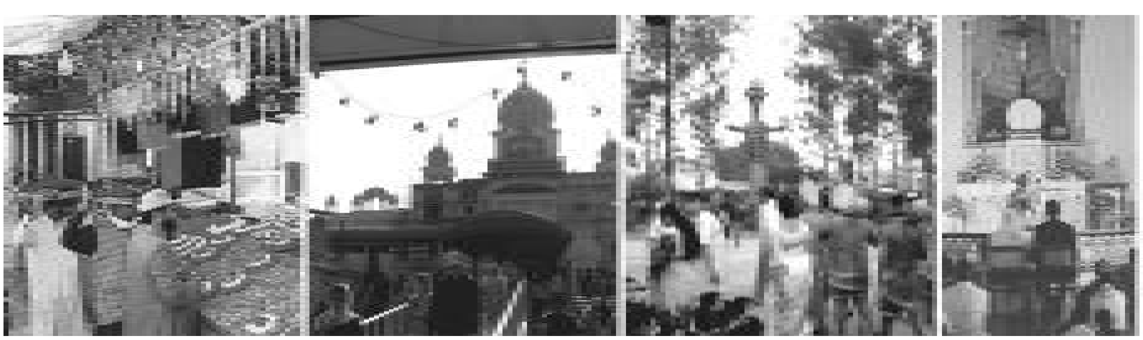

में आवश्यक रूप से कोई संबंध नहीं होता। एक संप्रदायवादी श्रद्धालु हो भी सकता है और नहीं भी एवं श्रद्धालु लोग संप्रदायवादी हो भी सकते हैं और नहीं भी। किंतु सभी संप्रदायवादी धर्म पर आधारित एक राजनीतिक पहचान में अवश्य विश्वास रखते हैं। मुख्य कारक है ऐसे लोगों के प्रति अभिवृत्ति जो अन्य प्रकार की पहचानों में, जिनमें अन्य धर्म आधारित पहचानें भी शामिल हैं, विश्वास रखते हैं। संप्रदायवादी आक्रामक राजनीतिक पहचान बनाते हैं और ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की निंदा करने या उस पर आक्रमण करने को तैयार रहते हैं जो उनकी पहचान का साझेदार नहीं होता।

संप्रदायवाद की एक प्रमुख विशिष्टता उसका यह दावा है कि धार्मिक पहचान अन्य सभी की तुलना में सर्वोपरि होती है। चाहे कोई ग़रीब हो या अमीर, चाहे किसी का कोई भी व्यवसाय हो, जाति या राजनीतिक विश्वास हो, धर्म ही सब कुछ होता है, उसी के आधार पर उसकी पहचान है। सभी हिंदू एक समान होते हैं जैसे, सभी मुसलमान, सिख आदि। इसके प्रभावस्वरूप बड़े-बड़े और विविध समूह एक तथा समरूप हो जाते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि यह अपने स्वयं के समूह के लिए और दूसरों के लिए भी किया जाता है। यह निश्चित रूप से इस संभावना को नकार देगा कि उदाहरण के लिए, केरल के हिंदू, मुसलमान और ईसाई आपस में उन सहधर्मियों की तुलना में अधिक समानताएँ रखते हैं जो कश्मीर, गुजरात या नागालैंड में निवास करते हैं। यह इस संभावना को भी नकारता है कि उदाहरण के लिए, भूमिहीन कृषि मज़दूर (अथवा उद्योगपति) आपस में बहुत-सी समानताएँ रख सकते हैं, भले ही वे विभिन्न धर्मों एवं क्षेत्रों से संबंधित हों।

भारत में संप्रदायवाद एक विशेष मुद्दा बन गया है क्योंकि यह तनाव और हिंसा का पुनरावर्त्तक स्रोत रहा है। सांप्रदायिक दंगों के दौरान, लोग अपने-अपने समुदायों के पहचान हीन सदस्य बन जाते हैं। वे अपने अभिमान की पूर्ति एवं अपना पाला बचाने के लिए अन्य समुदायों के सदस्यों को मार डालने, उनके साथ बलात्कार करने और लूटपाट को तैयार हो जाते हैं। आमतौर पर ऐसे घृणित कार्यों का औचित्य दर्शाने के लिए यह कहा जाता है कि हम तो अपने सहधर्मियों के अन्यत्र या पहले कभी किए गए कत्लों या अपमानों का बदला ले रहे हैं। कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जो किसी-न-किसी प्रकार की सांप्रदायिक हिंसा से पूरी तरह मुक्त रहा हो। प्रत्येक धार्मिक समुदाय ने न्यूनाधिक या अधिक मात्रा में हिंसा की मार सही है। हालाँकि अल्पसंख्यक समुदायों के लिए इसका मानसिक आघात आनुपातिक दृष्टि से बहुत अधिक रहा है। अगर सांप्रदायिक दंगों के लिए सरकार को किसी हद तक ज़िम्मेदार ठहराया जाए तो कोई भी सरकार या सत्ताधारी दल इस मामले में निर्दोष होने का दावा नहीं कर सकता। वास्तव में, सांप्रदायिक हिंसा के दो सर्वाधिक आघातकारी समकालीन उदाहरण दो प्रमुख राजनीतिक दलों के शासनकाल में घटित हुए। दिल्ली में 1984 के सिख-विरोधी दंगे कांग्रेस के राज में हुए और सन् 2002 में गुजरात में मुसलमान विरोधी हिंसा का अभूतपूर्व पैमाने पर व्यापक दौर भारतीय जनता पार्टी के शासनकाल में चला।

भारत में स्वंतत्रता-प्राप्ति से पहले के समय में भी सांप्रदायिक दंगे होते रहे हैं। ये दंगे अक्सर औपनिवेशिक शासकों द्वारा अपनाई गई फूट डालो और शासन करो की नीति के परिणामस्वरूप हुआ करते थे। लेकिन उपनिवेशवाद ने अंतर-सामुदायिक झगड़ों को जन्म नहीं दिया उपनिवेश काल से पहले भी ऐसे झगड़े होने का लंबा इतिहास रहा है और इसलिए स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के दंगों और मारकाट के लिए

कबीरदास – समन्वयी परंपराओं का चिर, शाश्वत प्रतीक

बॉक्स 6.9

हिंदू और मुसलमान भक्ति का समन्वित रूप प्रस्तुत करते कबीर के दोहे और पद बहुलवाद के चिरवांछित प्रतीक हैं:

मोको कहाँ ढूंढ़े रे बंदे
मैं तो तेरे पास में
ना तीरथ में, न मूरत में
ना एकांत निवास में
ना मंदिर में, न मस्जिद में
ना काबे कैलास में
मैं तो तेरे पास में बंदे
मैं तो तेरे पास में ...

क्रियाकलाप 6.6

अपने माता-पिता और परिवार के बुजुर्गों से बात करें और उनसे ऐसी कविताओं, गीतों, लघुकथाओं का संग्रह करें जिनमें धार्मिक बहुलवाद, समन्वयवाद अथवा सांप्रदायिक सौहार्द जैसे मुद्दों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। जब आप ऐसी संपूर्ण सामग्री इकट्ठी करके कक्षा के समक्ष प्रस्तुत करेंगे तो आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि धार्मिक बहुलवाद की हमारी परंपराओं का आधार कितना व्यापक है और विभिन्न भाषाई समूहों, क्षेत्रों और धर्मों के अनुयायी कितने व्यापक रूप से उन परंपराओं को आपस में बाँटते हैं।

निश्चित रूप से उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। दरअसल, यदि हम धार्मिक, सांस्कृतिक, क्षेत्रीय अथवा नृजातीय संघर्षों के उदाहरण खोजना चाहें तो वे हमारे इतिहास के लगभग प्रत्येक काल में मिल जाएँगे। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारे यहाँ धार्मिक बहुलवाद की भी एक लंबी परंपरा रही है जिसमें शांतिपूर्ण सह अस्तित्व से लेकर वास्तविक अंतरमिश्रण या समन्वयवाद शामिल है। यह समन्वयी विरासत भक्ति और सूफ़ी आंदोलनों के भक्ति गीतों और काव्यों में स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है (बॉक्स 6.9)। संक्षेप में, इतिहास हमारे समक्ष अच्छे और बुरे दोनों तरह के उदाहरण प्रस्तुत करता है इससे हम क्या सीखना चाहते हैं यह हमारे ऊपर निर्भर करता है।

धर्मनिरपेक्षतावाद

जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, समर्थकों तथा विरोधियों की बीच कुछ कड़वे विवादों के बावजूद सांप्रदायिक और सांप्रदायिकता शब्दों के अर्थ तो बहुत कुछ स्पष्ट हैं। विरोधाभासस्वरूप 'धर्मनिरपेक्ष' और 'धर्मनिरपेक्षतावाद' शब्दों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना अत्यंत कठिन है, हालाँकि वे भी उतने ही विवादास्पद हैं। वास्तव में, **धर्मनिरपेक्षता** या धर्मनिरपेक्षतावाद सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत में प्रस्तुत सर्वाधिक जटिल शब्दों में से एक है। पाश्चात्य संदर्भ में, इन शब्दों का मुख्य भाव चर्च और राज्य की पृथकता का द्योतक है। धार्मिक और राजनीतिक सत्ता के पृथक्करण ने पश्चिम के सामाजिक इतिहास में एक बड़ा मोड़ ला दिया। यह पृथक्करण धर्मनिरपेक्षीकरण या जनजीवन से धर्म के उत्तरोत्तर पीछे हटते जाने की प्रक्रिया से संबंधित था, क्योंकि अब धर्म को एक अनिवार्य दायित्व की बजाय स्वैच्छिक व्यक्तिगत व्यवहार के रूप में बदल दिया गया था। धर्मनिरपेक्षीकरण स्वयं आधुनिकता के आगमन और विश्व को समझने के धार्मिक तरीकों के विकल्प के रूप में विज्ञान तथा तर्कशक्ति के उदय से संबंधित था।

धर्मनिरपेक्ष और धर्मनिरपेक्षता के भारतीय अर्थों में उनके पश्चिमी भावार्थ तो शामिल हैं ही, पर उनमें कुछ और भाव भी जुड़े हैं। रोजमर्रा की भाषा में, धर्मनिरपेक्ष का सर्वाधिक सामान्य प्रयोग 'सांप्रदायिक'

के बिल्कुल विपरीत यानी विलोम के रूप में किया जाता है। इस प्रकार, एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति या राज्य वह होता है जो किसी विशेष धर्म का अन्य धर्मों की तुलना में पक्ष नहीं लेता। इस भाव में धर्मनिरपेक्षता धार्मिक उग्रवाद का विरोधी भाव है और इसमें धर्म के प्रति विद्वेष का भाव होना जरूरी नहीं होता। राज्य और धर्म के पारस्परिक संबंधों की दृष्टि से, धर्मनिरपेक्षता का यह भाव सभी धर्मों के प्रति समान आदर का द्योतक होता है, न कि अलगाव या दूरी का। उदाहरण के लिए, धर्मनिरपेक्ष भारतीय राज्य सभी धर्मों के त्यौहारों के अवसर पर सार्वजनिक छुट्टी घोषित करता है

पाश्चात्य भाव के राज्य के सभी धर्मों से दूरी बनाए रखने और भारतीय भाव के राज्य के सभी धर्मो को समान आदर देने के कारण दोनों के बीच तनाव से एक तरह की कठिन स्थिति पैदा हो गई है। प्रत्येक भाव के समर्थक विचलित हो जाते हैं जब राज्य दूसरे भाव का समर्थन करने के लिए कुछ करता है। क्या एक धर्मनिरपेक्ष राज्य हज यात्रा के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करें अथवा तिरुपति-तिरुमाला मंदिर परिसर के प्रबंध को देखें अथवा हिमालय के तीर्थों की यात्रा के लिए सहायता दें? उदाहरण के लिए क्या स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, गाँधी जयंती और अंबेडकर जंयती को छोड़कर, बाकी सभी धार्मिक पर्वो की छुट्टियाँ खत्म कर दें? क्या एक धर्मनिरपेक्ष राज्य गोवध पर प्रतिबंध लगा दे, क्योंकि गाय एक विशेष धर्म के लिए पवित्र होती है? यदि वह ऐसा कर दे तो क्या वह सूअरों की हत्या पर भी पाबंदी लगा दे, क्योंकि एक दूसरे धर्म में सूअर का मांस खाने की मनाही है? यदि सेना में सिख सिपाहियों को लंबे केश रखने और पगड़ी पहनने की अनुमति दे दी जाए तो क्या हिंदू सिपाहियों को भी सिर मुँड़ाने अथवा मुसलमान सिपाहियों को लंबी दाढ़ी रखने की इजाज़त दी जाए? ऐसे प्रश्नों पर तीव्र विवाद छिड़ जाएँगे जिनका समाधान बहुत कठिन होगा।

भारतीय राज्य द्वारा धर्मनिरपेक्षता के लिए प्रतिबद्ध होने और साथ-साथ अल्पसंख्यकों के संरक्षण का वचन दिए जाने के बीच के तनाव के कारण भी कुछ अन्य प्रकार की जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि उनका एक ऐसे संदर्भ में विशेष ध्यान रखा जाए जहाँ राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य काम-काज में उन्हें बहुसंख्यक समुदाय की तुलना में हानि पहुँचती हो। लेकिन ऐसा संरक्षण दिए जाने से तुरंत ही अल्पसंख्यकों के पक्षपात या 'तुष्टीकरण' का आरोप लगता है। विरोधी यह तर्क देते हैं कि इस प्रकार की धर्मनिरपेक्षता अल्पसंख्यकों के मत प्राप्त करने या उनसे अन्य प्रकार का समर्थन लेने के लिए उन्हें अपने पक्ष में लाने का एक बहाना मात्र है। समर्थक यह दलील देते हैं कि ऐसे विशेष संरक्षण के बिना तो धर्मनिरपेक्षतावाद अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यक समुदाय के मूल्यों एवं प्रतिमानों को थोपने का एक बहाना बन सकता है।

इस प्रकार के विवादों का समाधान उस समय और भी अधिक कठिन हो जाता है जब राजनीतिक दल अथवा सामाजिक आंदोलन अपने निहित स्वार्थों के कारण उन्हें हल नहीं होने देते बल्कि उन्हें बनाए रखना चाहते हैं। हाल के समय में सभी धर्मों के सांप्रदायवादियों ने गतिरोध बनाए रखने में योगदान दिया है। हिंदू सांप्रदायवादियों के पुनरुत्थान और नवार्जित राजनीतिक शक्ति के कारण इस जटिल स्थिति में एक और आयाम जुड़ गया है। साफ़ तौर पर, एक नीति के रूप में धर्मनिरपेक्षता एक सिद्धांत के रूप में और हमारे व्यवहार में इसकी समझ को बेहतर बनाने के लिए बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। परंतु इन सबके बावजूद, यह अब भी सच है कि भारत का संविधान और कानूनी संरचना विभिन्न प्रकार के सांप्रदायवाद द्वारा उत्पन्न की गई समस्याओं से निपटने के लिए काफ़ी कुछ प्रभावकारी साबित हुई है।

स्वतंत्र भारत की प्रथम पीढ़ी के नेताओं ने (जो अधिकतर हिंदू और उच्च जातियों से थे) एक लोकतांत्रिक संविधान के द्वारा शासित एक उदार, धर्मनिरपेक्ष राज्य का वरण किया। तदनुसार, एक ऐसे

'राज्य' की कल्पना की गई जो सांस्कृतिक दृष्टि से तटस्थ हो और एक ऐसे 'राष्ट्र' की भी कल्पना की गई जो सभी नागरिकों का एक समावेशात्मक भूभागीय-राजनीतिक समुदाय हो। राष्ट्र-निर्माण को मुख्य रूप से आर्थिक विकास और सामाजिक रूपांतरण की राज्य चालित प्रक्रिया के रूप में देखा गया। यह आशा की गई थी कि नागरिकता के अधिकारों के सार्वभौमीकरण और मुक्त एवं प्रतिस्पर्द्धात्मक राजनीति की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सांस्कृतिक बहुलताओं के समावेश से स्वयं नृजातीय समुदायों में और उनके तथा राज्य के बीच एक नया, नागरिक समीकरण विकसित हो जाएगा (शेठ:1999)। हो सकता है ये आशाएँ वांछित रूप में पूरी न हुई हों। लेकिन स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से ही, भारत के लोगों ने अपनी प्रत्यक्ष राजनीतिक भागीदारी एवं चुनावों के निर्णयों के माध्यम से बार-बार एक धर्मनिरपेक्ष संविधान और राज्य के लिए अपने समर्थन की परिपुष्टि की है। उनकी आवाज़ को महत्त्व दिया ही जाना चाहिए।

6.4 राज्य और नागरिक समाज

आपने शायद यह ध्यान दिया होगा कि इस अध्याय के अधिकांश भाग में राज्य के बारे में ही विवेचना होती रही है। जब एक राष्ट्र में सांस्कृतिक विविधता के प्रबंध की बात आती है तो **राज्य** वास्तव में, एक अत्यंत निर्णायक संस्था का रूप ले लेता है। हालाँकि यह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है, पर यह राष्ट्र और उसके लोगों से हटकर अपनी स्वतंत्र स्थिति भी बना सकता है। इस हद तक कि राज्य संरचना विधानमंडल, अधिकारीतंत्र (दफ़्तरशाही), न्यायपालिका, सशस्त्र सेनाएँ, पुलिस और राज्य के अन्य स्कंध, लोगों से पृथक् हो जाते हैं, यह सत्तावादी बनने की संभाविता भी रखता है। एक सत्तावादी राज्य लोकतंत्रात्मक राज्य का विपरीत होता है। एक सत्तावादी राज्य में लोगों की आवाज़ नहीं सुनी जाती और जिनके पास शक्ति होती है वे किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। सत्तावादी राज्य अक्सर भाषण की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, राजनीतिक क्रियाकलाप की स्वतंत्रता, सत्ता के दुरुपयोग से संरक्षण का अधिकार, विधि (कानून) की अपेक्षित प्रक्रियाओं का अधिकार जैसी अनेक प्रकार की नागरिक स्वतंत्रताओं को अक्सर सीमित या समाप्त कर देते हैं। **सत्तावाद** के अलावा, इस बात की संभावना भी रहती है कि राज्य की संस्थाएँ भ्रष्टाचार, अकुशलता अथवा संसाधनों की कमी के कारण, लोगों की ज़रूरतों के बारे में सुनवाई करने के लिए अक्षम अथवा अनिच्छुक हो जाएँ। संक्षेप में, ऐसे अनेक कारण हैं जिनकी वजह से राज्य वैसा नहीं होगा जैसा उसे होना चाहिए। इस संदर्भ में गैर-राजकीय कर्ता अथवा संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, क्योंकि वे राज्य पर नज़र रख सकते हैं, उसके अन्यायपूर्ण कार्यों का विरोध कर सकते हैं अथवा उसके प्रयत्नों में सहयोग कर सकते हैं।

नागरिक समाज उस व्यापक कार्यक्षेत्र को कहते हैं जो परिवार के निजी क्षेत्र से परे होता है, लेकिन राज्य और बाज़ार दोनों क्षेत्र से बाहर होता है। नागरिक समाज सार्वजनिक अधिकार का गैर-राजकीय तथा गैर-बाज़ारी भाग होता है जिसमें अलग-अलग व्यक्ति संस्थाओं और संगठनों का निर्माण करने के लिए स्वेच्छा से परस्पर जुड़ जाते हैं। यह सक्रिय नागरिकता का क्षेत्र है यहाँ व्यक्ति मिलकर सामाजिक मुद्दों पर चर्चा करते हैं, राज्य को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं अथवा उसके समक्ष अपनी माँगे रखते हैं, अपने सामूहिक हितों को पूरा करने का प्रयास करते हैं या विभिन्न कार्यों के लिए समर्थन चाहते हैं। इस क्षेत्र में नागरिकों के समूहों द्वारा बनाए गए स्वैच्छिक संघ, संगठन या संस्थाएँ शामिल होते हैं। इसमें राजनीतिक दल, जनसंचार की संस्थाएँ, मजदूर संघ, गैर-सरकारी संगठन, धार्मिक संगठन और अन्य प्रकार के सामूहिक तत्त्व भी शामिल होते हैं। नागरिक समाज में शामिल होने की मुख्य कसौटियाँ यह हैं कि

संगठन राज्य नियंत्रित नहीं होना चाहिए और यह विशुद्ध रूप से वाणिज्यिक मुनाफ़ा कमाने वाले तत्त्व न हों। इस प्रकार, दूरदर्शन नागरिक समाज का हिस्सा नहीं है, जबकि निजी टेलीविजन चैनल हैं, एक कार निर्माता कंपनी नागरिक समाज का हिस्सा नहीं है लेकिन उसके कामगारों के मज़दूर संघ इसके अंतर्गत आते हैं। वास्तव में यह कसौटियाँ बहुत से क्षेत्रों को स्पष्ट नहीं कर पातीं। उदाहरण के लिए, एक समाचारपत्र विशुद्ध रूप से एक वाणिज्यिक उद्यम के रूप में चलाया जा सकता है अथवा एक गैर–सरकारी संगठन को सरकारी निधियों से सहायता दी जा सकती है।

भारतीय लोगों को सत्तावादी शासन का थोड़ा अनुभव 'आपातकाल' के दौरान हुआ जो जून 1975 से जनवरी 1977 तक लागू रही थी। संसद को निलंबित कर दिया गया था और सरकार द्वारा सीधे नए कानून बनाए गए। नागरिक स्वतंत्रताएँ छीन ली गई और राजनीतिक रूप से सक्रिय लोग बड़ी संख्या में गिरफ़्तार करके, बिना मुकदमा चलाए, जेलों में डाल दिए गए। जनसंचार के माध्यमों पर सेंसर व्यवस्था लागू कर दी गई और सरकारी पदाधिकारियों को, सामान्य प्रक्रियाएँ अपनाए बिना बर्खास्त किया जा सकता था। सरकार ने नीचे स्तर के अधिकारियों पर अनुचित दबाव डाला कि वे उसके कार्यक्रमों को कार्यांवित करें

बॉक्स 6.10

लोगों के उत्तर देने के लिए राज्य को बाध्य करना: सूचनाधिकार अधिनियम 2005

सूचनाधिकार अधिनियम 2005 (अधिनियम सं. 22/2005) भारतीय संसद द्वारा अधिनियमित एक ऐसा कानून (विधि) है जिसके तहत भारतीयों को (जम्मू और कश्मीर राज्य में रहने वाले लोगों को छोड़कर जिनके पास उनका अपना विशेष कानून है) सरकारी अभिलेखों तक पहुँचने का अधिकार दिया गया है। इस अधिनियम की शर्तों के अधीन, कोई भी व्यक्ति किसी 'सार्वजनिक प्राधिकरण' (सरकारी निकाय अथवा राज्य का करणत्व) से सूचना के लिए अनुरोध कर सकता है और उस प्राधिकरण से यह आशा की जाती है कि वह शीघ्रता से यानी 30 दिन के भीतर उसे उत्तर देगा। यह अधिनियम प्रत्येक सार्वजनिक प्राधिकरण से यह अपेक्षा करता है कि वह व्यापक प्रसार के लिए अपने अभिलेखों को कंप्यूटरबद्ध करे और कतिपय श्रेणियों से संबंधित सूचना को स्वयं सक्रिय होकर प्रकाशित करे ताकि नागरिकों को सूचना के लिए औपचारिक रूप से अनुरोध करने की कम–से–कम आवश्यकता पड़े।

संसद द्वारा इस कानून को 15 जून 2005 को पारित किया गया था और यह 13 अक्तूबर 2005 से लागू हुआ। भारत में सूचना प्रकट करने का कार्य अब तक सरकारी गुप्त अधिनियम 1923 और अनेक अन्य विशेष कानूनों से प्रतिबंधित था, लेकिन नए सूचनाधिकार अधिनियम ने उन सबको रद्द कर दिया है।

अधिनियम यह विनिर्दिष्ट करता है कि नागरिकों को:

- किसी भी सूचना (यथापरिभाषित) के लिए अनुरोध करने,
- दस्तावेज़ों की प्रतिलिपियाँ लेने,
- दस्तावेज़ों, कार्यों और अभिलेखों का निरीक्षण करने,
- कार्य की सामग्रियों के प्रमाणित नमूने लेने का अधिकार है।
- नागरिक सूचना प्रिंटआउट, डिस्केट, फ़्लॉपी, टेप, वीडियो कैसेट अथवा अन्य किसी भी इलेक्ट्रॉनिक रीति से अथवा प्रिंटआउट के माध्यम से ले सकते हैं।

क्रियाकलाप 6.9

उन नागरिक समाज संगठनों अथवा ग़ैर-सरकारी संगठनों का पता लगाएँ जो आपके आस-पड़ोस में सक्रिय हैं। वे किस प्रकार के मुद्दों को उठाते हैं? उनमें किस प्रकार के लोग काम करते हैं? यह संगठन
(क) सरकारी संगठनों;
(ख) वाणिज्यिक संगठनों से
कैसे और कितने भिन्न हैं।

और तुरंत परिणाम दिखलाएँ। इनमें सबसे कुख्यात कार्यक्रम वंध्यकरण यानी नसबंदी अभियान था जिसके तहत बहुत से लोग शल्यक्रिया के कारण उत्पन्न हुई समस्याओं से मृत्यु को प्राप्त हो गए। जब 1977 के प्रारंभ में अप्रत्याशित रूप से चुनाव कराए गए तो लोगों ने बढ़-चढ़कर सत्ताधारी कांग्रेस दल के विरोध में वोट डाले।

आपातकाल के झटके ने लोगों में सक्रिय भागीदारी की लहर पैदा कर दी और उसके परिणामस्वरूप 1970 के दशक में नागरिक समाज के अनेक नए-नए कार्यक्रम प्रारंभ किए गए। इस अवधि में तरह-तरह के सामाजिक आंदोलन उठ खड़े हुए जिनमें महिलाओं, पर्यावरण की सुरक्षा, मानव अधिकारों और दलितों के आंदोलन प्रमुख थे। आज नागरिक समाज के संगठनों के क्रियाकलाप और भी व्यापक रूप ले चुके हैं जिनमें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के साथ पक्ष समर्थन तथा प्रचार संबंधी गतिविधियाँ चलाने के साथ-साथ विभिन्न आंदोलनों में सक्रियतापूर्वक भाग लेना शामिल है। विविध प्रकार के मुद्दों को उठाया गया जिसमें भूमि संबंधी अधिकारों के लिए जनजातीय संघर्ष, नगरीय शासन का हस्तांतरण, स्त्रियों के प्रति हिंसा और बलात्कार के विरुद्ध अभियान, बाँधों के निर्माण अथवा विकास की अन्य परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए लोगों का पुनर्वास, मशीनों की सहायता से मछली पकड़ने के विरुद्ध मछुआरों का संघर्ष, फेरी लगाकर सामान बेचने वालों या पटरी पर रहने वालों का पुनर्वास, गंदी बस्तियाँ हटाने के विरुद्ध और आवासीय अधिकारों के लिए अभियान, प्राथमिक शिक्षा संबंधी सुधार, दलितों को भूमि का वितरण, आदि शामिल हैं। नागरिक स्वतंत्रता संगठन राज्य के कामकाज पर नज़र रखने और उससे कानून का पालन करवाने की दिशा में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रहे हैं। जनसंचार माध्यमों ने भी, विशेष रूप से इसके उभरते हुए दृश्य और इलेक्ट्रॉनिक खंडों ने उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सक्रिय भूमिका अदा की है।

हाल में उठाए गए उल्लेखनीय कदमों में सूचना के अधिकार के लिए चलाए गए अभियान को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसकी शुरुआत ग्रामीण राजस्थान में एक ऐसे आंदोलन के साथ हुई थी जो वहाँ गाँवों के विकास पर खर्च की गई सरकारी निधियों के बारे में सूचना देने के लिए चलाया गया था, आगे चलकर इस आंदोलन ने राष्ट्रव्यापी अभियान का रूप धारण कर लिया। नौकरशाही के प्रतिरोध के बावजूद, सरकार को इस अभियान की सुनवाई करनी पड़ी और औपचारिक रूप से एक नया कानून बनाना पड़ा जिसके तहत नागरिकों के सूचना के अधिकार को मान्यता दी गई (बॉक्स 6.10)। इस प्रकार के उदाहरण यह प्रकट करते हैं कि नागरिक समाज यह सुनिश्चित करने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि राज्य, राष्ट्र और उसके लोगों के प्रति जवाबदेह है।

प्रश्नावली

1. सांस्कृतिक विविधता का क्या अर्थ है? भारत को एक अत्यंत विविधतापूर्ण देश क्यों माना जाता है?
2. सामुदायिक पहचान क्या होती है और वह कैसे बनती है?
3. राष्ट्र को परिभाषित करना क्यों कठिन है? आधुनिक समाज में राष्ट्र और राज्य कैसे संबंधित हैं?
4. राज्य अक्सर सांस्कृतिक विविधता के बारे में शंकालु क्यों होते हैं?
5. क्षेत्रवाद क्या होता है? आमतौर पर यह किन कारकों पर आधारित होता है?
6. आपकी राय में, राज्यों के भाषाई पुनर्गठन ने भारत का हित या अहित किया है?
7. 'अल्पसंख्यक' (वर्ग) क्या होता है? अल्पसंख्यक वर्गों को राज्य से संरक्षण की क्यों ज़रूरत होती है?
8. सांप्रदायवाद या सांप्रदायिकता क्या है?
9. भारत में वह विभिन्न भाव (अर्थ) कौन से हैं जिनमें धर्मनिरपेक्षता या धर्मनिरपेक्षतावाद को समझा जाता है?
10. आज नागरिक समाज संगठनों की क्या प्रासंगिकता है?

संदर्भ ग्रंथ

भार्गव, राजीव. 1998. 'वॉट इज़ सिक्युलरिज़्म?' राजीव, भार्गव. द्वारा संपा. *सिक्युलरिज़्म एंड इट्स क्रिटिक्स.* से. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. नयी दिल्ली।

भार्गव, राजीव. 2005. *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्फियर एंड सिटिज़नशिप.* सेज पब्लिकेशंस. नयी दिल्ली।

भट्टाचार्या, हरिहर. 2005. *फेडरलिज़्म एंड रीजनलिज़्म इन इंडिया: इंस्ट्टीटयूशनल स्ट्रैटजीस एंड पॉलीटिकल एकोमोडेशन ऑफ़ आइडेंटिट्रीस.* वर्किंग पेपर न. 27, साउथ एशिया इंस्टीट्यूट. *डिपार्टमेंट ऑफ़ पॉलीटिकल साइंस. यूनिवर्सिटी ऑफ हिडलबर्ग. हिडलबर्ग।*

ब्रास, पॉल. 1974. *लैंगवेज, रिलिजन एंड पॉलीटिक्स इन नॉर्थ इंडिया.* विकास पब्लिशिंग हाउस. दिल्ली।

चंद्रा, बिपन. 1987. *कम्युनलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया.* विकास पब्लिशिंग हाउस. नयी दिल्ली।

मिलर, डेविड. 1995. *ऑन नेशनेलिटी.* क्लेरेनडन प्रेस. ऑक्सफ़ोर्ड।

शेठ, डी. एल. 1995. 'द नेशन-स्टेट एंड माइनॉरिटी राइट्स'. डी. एल. शेठ. एंड गुरप्रीत, महाजन. द्वारा संपा. *माइनॉरिटी आइडेंटिटीस एंड द नेशन-स्टेट्स.* से. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. नयी दिल्ली।

टिप्पणियाँ

अध्याय 7

परियोजना कार्य के लिए सुझाव

यह अध्याय कुछ छोटी-छोटी अनुसंधान परियोजनाओं के बारे में सुझाव देता है जिन पर आप कार्य कर सकते हैं। अनुसंधान के बारे में पढ़ने और उसे वास्तव में करने में बहुत अंतर होता है। किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए व्यावहारिक प्रयास करना और सुव्यवस्थित रूप से साक्ष्य इकट्ठा करना एक अत्यंत उपयोगी अनुभव है। आशा है यह अनुभव आपका समाजशास्त्रीय अनुसंधान से जुड़ी कुछ कठिनाइयों से नहीं बल्कि इसके उत्साह से भी परिचय कराएगा। इस अध्याय को पढ़ने से पहले, कृपया 11वीं कक्षा की पाठ्यपुस्तक 'समाजशास्त्र परिचय' के अध्याय 5 (समाजशास्त्र – अनुसंधान पद्धतियाँ) पर पुन:दृष्टिपात करें।

यहाँ जो सुझाव दिए गए हैं उनमें उन संभावित समस्याओं को ध्यान में रखने का प्रयास किया गया है जो विभिन्न संदर्भों, परिस्थितियों या विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में ऐसे शोध कार्यों के दौरान उपस्थित हो सकती हैं। इनका अभिप्राय आपके मन में शोध के बारे में एक उत्साह पैदा करना है। एक "वास्तविक" अनुसंधान परियोजना निश्चित रूप से अधिक विस्तृत होगी और उसे संपन्न करने के लिए छात्रों को विद्यालय में उपलब्ध समय से कहीं अधिक समय देने एवं प्रयत्न करने की आवश्यकता होगी। यह सिर्फ़ सुझाव मात्र है-आप अपने अध्यापकों के साथ विचार-विमर्श कर अन्य शोध परियोजनाएँ तैयार कर उन पर कार्य करने के लिए स्वतंत्र हैं।

प्रत्येक अनुसंधान प्रश्न यानी शोध विषय पर कार्य करने के लिए एक उपयुक्त अनुसंधान पद्धति की आवश्यकता होती है। एक प्रश्न का उत्तर अक्सर एक से अधिक पद्धतियों से दिया जा सकता है लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि एक अनुसंधान पद्धति सभी प्रश्नों के लिए उपयुक्त हो। दूसरे शब्दों में, अधिकांश शोध प्रश्नों के लिए, शोधकर्ता के पास संभावित पद्धतियों को चुनने की स्वतंत्रता होती है, लेकिन यह चुनाव आमतौर पर सीमित होता है। शोध प्रश्न का सावधानीपूर्वक निर्धारण करने के बाद, शोधकर्ता का सबसे पहला काम उपयुक्त शोध प्रणाली का चयन करना होता है। यह चयन तकनीकी कसौटियों (यानी प्रश्न और पद्धति के बीच कितनी संगतता है) के अनुसार ही नहीं बल्कि व्यावहारिकता को भी ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए। व्यावहारिकता में अनेक बातें शामिल हो सकती हैं जैसे, अनुसंधान के लिए उपलब्ध समय की मात्रा, लोगों एवं सामग्री दोनों के रूप में उपलब्ध संसाधन; वे परिस्थितियाँ जिनमें शोध किया जाना है, इत्यादि।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि आप 'सह-शिक्षा विद्यालयों' और 'केवल बालकों' या 'केवल बालिकाओं' वाले विद्यालयों के बीच तुलना करना चाहते हैं। दरअसल, यह एक व्यापक विषय है। इसलिए सर्वप्रथम आप एक विशेष प्रश्न तैयार करें जिसका आप उत्तर देना चाहते हों। उदाहरण के लिए, क्या सह-शिक्षा विद्यालयों के छात्र केवल बालकों/बालिकाओं वाले विद्यालयों के छात्रों की अपेक्षा पढ़ाई में बेहतर प्रदर्शन करते हैं? क्या केवल बालकों वाले विद्यालय खेल-कूद में सह-शिक्षा विद्यालयों से हमेशा बेहतर होते हैं? क्या केवल बालकों या बालिकाओं वाले विद्यालयों में पढ़ने वाले बच्चे सह-शिक्षा विद्यालयों में पढ़ने वाले बच्चों की अपेक्षा अधिक खुश रहते हैं; अथवा इसी तरह के अन्य प्रश्न। एक निर्धारित प्रश्न चुन लेने के बाद अगला कदम होता है उपयुक्त पद्धति का चयन करना।

उदाहरणार्थ, अंतिम प्रश्न यानी क्या केवल बालकों या बालिकाओं वाले विद्यालयों के बच्चे अधिक खुश रहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए आप विभिन्न प्रकार के विद्यालयों के छात्रों से साक्षात्कार की पद्धति चुन सकते हैं। साक्षात्कार में आप छात्रों से सीधे यह पूछ सकते हैं कि वे अपने विद्यालय के

बारे में कैसा महसूस करते हैं। फिर आप इस प्रकार इकट्ठे किए गए उत्तरों का विश्लेषण यह देखने के लिए कर सकते हैं कि क्या विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों के उत्तरों में क्या कोई भिन्नता है? शोध प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए एक विकल्प के रूप में आप एक दूसरी पद्धति भी अपना सकते हैं जैसे, प्रत्यक्ष प्रेक्षण। इसका अर्थ यह हुआ कि आपको सह-शिक्षा और बालक/बालिका वाले विद्यालयों में कुछ समय यह अवलोकन करने में बिताना होगा कि वहाँ के छात्र कैसा व्यवहार करते हैं। आपको कुछ कसौटियाँ निर्धारित करनी होंगी जिनके आधार पर आप यह कह सकेंगे कि छात्र अपने विद्यालय से कितना खुश हैं। इस प्रकार, पर्याप्त समय तक विभिन्न प्रकार के स्कूलों का अवलोकन करने के बाद आप अपने प्रश्न का ठीक उत्तर देने की आशा कर सकेंगे। आप एक तीसरी पद्धति, सर्वेक्षण प्रणाली, भी अपना सकते हैं। इसके लिए आपको छात्रों से उनके विद्यालय के बारे में उनके विचार जानने के लिए एक प्रश्नावली तैयार करनी होगी। इसके बाद आप अपनी प्रश्नावली प्रत्येक प्रकार के विद्यालय में समान संख्या में छात्रों को वितरित कर देंगे। तत्पश्चात् आप छात्रों से भरी हुई प्रश्नावलियों को इकट्ठा करके उनके परिणामों का विश्लेषण करेंगे।

यहाँ कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के उदाहरण दिए गए हैं जो इस तरह का अनुसंधान करते समय शायद आपके समक्ष आ सकती हैं। मान लीजिए कि आप सर्वेक्षण करने का निर्णय लेते हैं। आपको सर्वप्रथम प्रश्नावली की बहुत सारी प्रतियाँ तैयार करनी होंगी। इस कार्य में समय, प्रयत्न और पैसा लगता है। इसके बाद, आपको छात्रों को उनकी कक्षाओं में प्रश्नावली वितरित करने के लिए अध्यापकों से अनुमति भी लेनी होगी। हो सकता है कि आपको पहली बार में यह अनुमति न मिले या यह कह दिया जाए कि बाद में आना। प्रश्नावली वितरण के बाद, यह स्थिति आ सकती है कि जिन छात्रों को आपने प्रश्नावली दी थी, उनमें से बहुतों ने तो उसे भरकर लौटाने का कष्ट ही न किया हो अथवा सब प्रश्नों के उत्तर न दिए हों; इसी तरह की और भी कई समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं। तब आपको यह निर्णय लेना होगा कि ऐसी समस्याओं से कैसे निपटा जाए; क्या आधे-अधूरे उत्तर देने वाले उत्तरदाताओं के पास जाकर यह कहा जाए कि वे अपनी प्रश्नावली को पूरी तरह भरें; अथवा अपूर्ण प्रश्नावलियों को एक तरफ़ छोड़कर ठीक से भरी गई प्रश्नावलियों पर ही विचार करें; पूरे दिए गए उत्तरों के आधार पर ही अपना निर्णय ले लें; इत्यादि। शोध कार्य के दौरान आपको ऐसी व्यवहारिक समस्याओं से निपटने के लिए तैयार रहना होगा।

7.1 शोध पद्धतियों की बहुलता

शायद आपको 11वीं कक्षा की पाठ्यपुस्तक *समाजशास्त्र परिचय* के पाँचवें अध्याय में अनुसंधान पद्धतियों पर की गई चर्चा याद होगी। आपकी याददाश्त को ताज़ा करने के लिए इस अध्याय को दुबारा पढ़ने का यह अच्छा समय है।

सर्वेक्षण प्रणाली

इस प्रणाली के अंतर्गत सामान्यत: निर्धारित प्रश्नों को अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में लोगों से पूछा जाता है। (यह संख्या 30, 1000, 2000 या इससे भी अधिक हो सकती है, 'बड़ी संख्या' किसे माना जाएगा यह विषय एवं संदर्भ पर आधारित होता है।) ये प्रश्न अन्वेषक द्वारा व्यक्तिगत रूप से पूछे जा सकते हैं जहाँ

उत्तरदाता प्रश्न सुनकर उनका उत्तर देता है और अन्वेषक उन उत्तरों को लिख लेता है। अथवा, प्रश्नावली उत्तरदाताओं को सौंप दी जाती है और उत्तरदाता स्वयं उन प्रश्नावलियों को भर कर अन्वेषक को लौटा देते हैं। सर्वेक्षण प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि इसके अंतर्गत एक साथ काफ़ी बड़ी संख्या में लोगों के विचार जाने जा सकते हैं। इसलिए, इसके परिणाम संबंधित समूह या जनसंख्या के विचारों का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रणाली की कमजोरी यह है कि इसके द्वारा जो प्रश्न पूछे जाते हैं वे पहले से ही निर्धारित होते हैं। प्रश्न पूछते वक्त इसमें कोई फेरबदल नहीं किया जा सकता। इसलिए, यदि उत्तरदाता किसी प्रश्न को ठीक से नहीं समझ पाते तो गलत या भ्रामक परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं। इसके अलावा, यदि कोई उत्तरदाता कोई दिलचस्प बात कहता है तो उसके बारे में आगे कोई नए प्रश्न नहीं पूछे जा सकते क्योंकि आपको प्रश्नावली की पूर्व-निर्धारित सीमाओं के भीतर रहना पड़ता है। इसके अलावा, प्रश्नावलियाँ एक विशेष समय पर खींची गई फ़ोटो की तरह एक निश्चित स्थिति का ही चित्र प्रस्तुत करती हैं। यह स्थिति आगे चलकर बदल भी सकती है अथवा यह भी संभव है कि पहले उसका स्वरूप आज जैसा न रहा हो, लेकिन सर्वेक्षण में इन बदली हुई स्थितियों को शामिल नहीं किया जा सकता।

साक्षात्कार

साक्षात्कार, सर्वेक्षण पद्धति से इस तरह से भिन्न होता है कि साक्षात्कार हमेशा व्यक्तिगत रूप से किया जाता है और इस पद्धति में अपेक्षाकृत काफ़ी कम लोगों (जैसे, 5, 20, या 40 आमतौर पर इससे अधिक नहीं) को शामिल किया जाता है। साक्षात्कार संरचित हो सकते हैं यानी उनमें पूर्व निर्धारित प्रश्न पूछे जाते हैं अथवा ये असंरचित होते हैं। जिनमें कुछ विषय या प्रकरण ही पूर्वनिर्धारित होते हैं और वास्तविक प्रश्न वार्तालाप के दौरान उभर कर आते हैं। साक्षात्कार अधिक या कम गहन हो सकते हैं, इस अर्थ में कि साक्षात्कार लेने वाला एक व्यक्ति का लंबे समय (2-3 घंटे) तक साक्षात्कार ले सकता है या उनकी कहानी की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए बार-बार साक्षात्कार कर सकता है।

साक्षात्कार पद्धति का एक लाभ यह भी होता है कि साक्षात्कारों में लचीलापन होता है, यानी कि संबंधित विषयों पर विस्तार से चर्चा की जा सकती है, प्रश्नों को आवश्यकतानुसार तोड़ा-मरोड़ा या संशोधित किया जा सकता है और उत्तरदाता से उसके द्वारा दिए गए उत्तर को स्पष्ट करने के लिए भी कहा जा सकता है। साक्षात्कार पद्धति की एक कमज़ोरी यह है कि इसमें बहुत ज़्यादा लोगों को शामिल नहीं किया जा सकता और यह व्यक्तियों के एक चयनित समूह के विचारों को ही प्रस्तुत कर सकता है।

प्रेक्षण

प्रेक्षण पद्धति के अंतर्गत शोधकर्ता को अपने शोध कार्य के लिए निर्धारित परिस्थिति या संदर्भ में क्या-कुछ हो रहा है इस पर बारीकी से नज़र रखनी होती है और उसका अभिलेख तैयार करना होता है। यह काम ऊपर से तो बहुत आसान दिखाई देता है पर व्यावहारिक रूप से हमेशा इतना सरल नहीं होता। कौन-सी घटना शोध कार्य की दृष्टि से प्रासंगिक है और कौन-सी नहीं है इसका पूर्वनिर्णय किए बिना जो कुछ हो रहा है उस पर सावधानीपूर्वक नज़र रखनी होती है। कभी-कभी, जो घटित नहीं हो रहा है वह वास्तव में जो घटित हो रहा है उतना ही महत्त्वपूर्ण या दिलचस्प होता है। उदाहरण के लिए, यदि आपका शोध प्रश्न यह हो कि विभिन्न वर्गों के लोग कुछ विशिष्ट स्थानों (जैसे, बाग, पार्क, मैदान या अन्य सार्वजनिक

स्थान) का इस्तेमाल कैसे करते हैं, तब यह जानना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है कि एक दिए गए वर्ग या समूह के लोग (जैसे, उदाहरण के लिए, ग़रीब या मध्य वर्ग के लोग) उस जगह कभी नहीं गए हों अथवा उन्होंने उसे कभी देखा नहीं हो।

एक से अधिक पद्धतियों का सम्मिश्रण

आप एक ही शोध प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने के लिए पद्धतियों का सम्मिश्रण भी कर सकते हैं। वस्तुत: इस सम्मिश्रण को अपनाने के लिए अक्सर सिफ़ारिश की जाती है। उदाहरण के लिए, यदि आप सामाजिक जीवन में समाचारपत्र और टेलीविज़न जैसे जनसंचार के साधनों की बदलती हुई स्थिति के बारे में शोध कर रहे हैं तो आप सर्वेक्षण और ऐतिहासिक पद्धतियों को एक साथ अपना सकते हैं। सर्वेक्षण आपको यह बतला देगा कि आज क्या हो रहा है, जबकि ऐतिहासिक पद्धति से आपको यह पता चल सकेगा कि पहले पत्रिकाएँ, समाचारपत्र अथवा टेलीविज़न के कार्यक्रम कैसे होते थे।

7.2 छोटी शोध परियोजनाओं के लिए संभावित प्रकरण एवं विषय

यहाँ कुछ संभावित शोध विषयों के बारे में सुझाव दिए जा रहे हैं, ये सुझाव मात्र हैं, आप अपने अध्यापकों से परामर्श करके अन्य विषय चुन सकते हैं। स्मरण रहे कि यह विषय मात्र हैं; आपको इन विषयों पर आधारित निर्धारित प्रश्नों का चुनाव करने की आवश्कता है। यह भी याद रखें कि इनमें से अधिकांश विषयों के लिए अधिकांश प्रणालियाँ अपनाई जा सकती हैं, लेकिन आपने जिस प्रश्न विशेष को चुना है, उसके लिए अपनाई जाने वाली प्रणाली उपयुक्त होनी चाहिए। आप प्रणालियों का सम्मिश्रण भी कर सकते हैं। सुझाए गए विषय किसी विशेष क्रम में नहीं दिए गए हैं। जो विषय आपकी पाठ्यपुस्तकों से स्पष्ट या प्रत्यक्ष रूप से नहीं लिए गए हैं, उन पर विशेष बल दिया गया है क्योंकि पाठ्य सामग्री से संबंधित अपने परियोजनागत विचारों पर सोचना आपके तथा आपके अध्यापकों के लिए अधिक आसान होगा।

1. सार्वजनिक परिवहन

लोगों के जीवन में इसकी क्या भूमिका है? इसकी आवश्यकता किन्हें होती है? उन्हें इसकी आवश्कता क्यों होती है? विभिन्न प्रकार के लोग सार्वजनिक परिवहन पर कितने निर्भर हैं? सार्वजनिक परिवहन से किस प्रकार की समस्याएँ और मुद्दे जुड़े हैं? सार्वजनिक परिवहन के साधन या उनके रूप समय के साथ किस प्रकार बदलते रहे हैं? क्या सार्वजनिक परिवहन की उपलब्धता में अंतर आने से सामाजिक समस्याएँ पैदा होती हैं? क्या ऐसे समूह हैं जिन्हें सार्वजनिक परिवहन की आवश्यकता नहीं होती? उनकी इसके प्रति क्या सोच है? आप परिवहन के किसी एक विशेष साधन जैसे, ताँगा या रिक्शा या रेलगाड़ी को भी चुन सकते हैं और अपने कस्बे या शहर के संदर्भ में उसका इतिहास लिख सकते हैं। परिवहन के इस साधन में अब तक क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं? इसका अन्य किन-किन साधनों के साथ तगड़ा मुकाबला रहा है?

इस मुकाबले में किसकी जीत या हार हुई? इस हार या जीत के कारण क्या थे? परिवहन के इस साधन का भविष्य कैसा होगा? क्या कोई इसकी कमी महसूस करेगा?

यदि आप दिल्ली में रहते हैं तो दिल्ली मेट्रो (रेल) के बारे में और जानने की कोशिश करें। क्या आप एक विज्ञान–कथा लिख सकते हैं कि आज से लगभग 50 साल बाद यानी 2050 या 2060 में यह मेट्रो रेलगाड़ी कैसी होगी? (याद रहे, एक अच्छी विज्ञान–कथा लिखना आसान नहीं होता! आप जो भी कल्पना करें उसके लिए कारण अवश्य दें। ये कल्पनाएँ वर्तमान वस्तुओं/स्थितियों/संबंधों से अलग होते हुए भी इनसे किसी मायने में जुड़ी भी होनी चाहिए। इसलिए आपको यह कल्पना करनी होगी कि भविष्य में सार्वजनिक परिवहन वर्तमान परिस्थितियों में से किस प्रकार विकसित होगा और आज की तुलना में, मेट्रो की भूमिका भविष्य में कैसी होगी)।

2. सामाजिक जीवन में संचार माध्यमों की भूमिका

संचार माध्यमों में जनसंचार के साधन जैसे, समाचारपत्र, टेलीविज़न, फ़िल्में, इंटरनेट, इत्यादि शामिल हो सकते हैं जो कि सूचना प्रदान करते हैं और बड़ी संख्या में लोगों द्वारा देखे जाते हैं या बड़ी संख्या में लोग इनका इस्तेमाल करते हैं। इनमें वे साधन भी शामिल किए जा सकते हैं जिनका प्रयोग लोग परस्पर संपर्क के लिए करते हैं जैसे, दूरभाष, पत्र, मोबाइल फ़ोन, ई–मेल और इंटरनेट। इन क्षेत्रों में आप उदाहरणार्थ, सामाजिक जीवन में संचार माध्यमों के बदलते हुए स्थान और मुद्रित सामग्री (पुस्तकें, समाचारपत्र, पत्रिकाएँ), रेडियो, टेलीविज़न एवं अन्य प्रमुख माध्यमों में होने वाले परिवर्तनों के बारे में अन्वेषण कर सकते हैं। एक अन्य स्तर पर आप फ़िल्मों, पुस्तकों आदि के संबंध में कुछ विशेष समूहों (वर्गों, आयु समूहों, लिंगों) की पसंदों और नापसंदों के बारे में विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछ सकते हैं। नए संचार माध्यमों (जैसे, मोबाइल फ़ोन या इंटरनेट) और उनके प्रभाव के बारे में लोगों का दृष्टिकोण क्या है? लोगों के जीवन में उनका स्थान क्या है, इस बारे में हम प्रेक्षण और पूछताछ के जरिये क्या जान सकते हैं? प्रेक्षण के माध्यम से आप कही गई बातों और वास्तविक व्यवहार के बीच के अंतर (यदि कोई हो) को जान सकते हैं। लोग

जितने घंटे टेलीविज़न देखने के बारे में सोचते हैं क्या वह वास्तव में उतने ही घंटे टेलीविज़न देखते हैं या उनके विचार से कितने घंटे टेलीविज़न देखना उचित होगा, आदि)। संचार माध्यमों के बाह्य रूप में परिवर्तन हो जाने के कुछ परिणाम क्या हैं? (उदाहरण के लिए, क्या टेलीविज़न ने रेडियो और समाचारपत्रों के महत्त्व को वास्तव में कम कर दिया है अथवा प्रत्येक माध्यम का अपना अलग स्थान है?)। वे कौन से कारण हैं जिनकी वजह से लोग किसी एक या अन्य माध्यम को अधिक पसंद करते हैं?

वैकल्पिक रूप से, आप संचार माध्यमों (समाचारपत्रों, पत्रिकाओं, टेलीविज़न, आदि) की विषय-वस्तु के विश्लेषण के आधार पर चाहे जितनी परियोजनाओं पर कार्य करने की बात सोच सकते हैं और यह भी कि इन माध्यमों ने कुछ विशेष विषयों या प्रकरणों जैसे, विद्यालय और विद्यालयी शिक्षा, पर्यावरण, जाति, धार्मिक संघर्षों, खेल-कूद के कार्यक्रम, स्थानीय बनाम राष्ट्रीय या क्षेत्रीय समाचार, आदि का कैसा विवेचन किया है?

3. घर-परिवार में काम आने वाले उपकरण एवं घरेलू कार्य

ऐसे घरेलू उपकरणों का मतलब है वे सभी उपकरण जो घरेलू काम में इस्तेमाल किए जाते हैं जैसे, गैस, कैरोसीन या अन्य प्रकार के स्टोव; मिक्सियाँ, विभिन्न प्रकार के खाद्य परिसाधक (फूड प्रोसेसर) और ग्राइंडर; कपड़ों पर इस्तरी करने के लिए बिजली या अन्य प्रकार की इस्तरियाँ; कपड़े धोने की मशीनें; ओवन; टोस्टर; प्रेशर कुकर, आदि। समय के साथ घरेलू काम-काज में कैसा परिवर्तन हुआ है? क्या इन उपकरणों के आ जाने से काम का स्वरूप, विशेष रूप से घर-परिवार के भीतर श्रम-विभाजन का स्वरूप बदल गया है? वे लोग कौन हैं जो इन उपकरणों का इस्तेमाल करते हैं? क्या वे अधिकतर पुरुष या स्त्रियाँ, जवान या बूढ़े, वेतन-भोगी या निःशुल्क काम करने वाले लोग हैं? इन उपकरणों का प्रयोग करने वाले उनके

बारे में क्या महसूस करते हैं? क्या इन उपकरणों ने काम को वास्तव में आसान बना दिया है? क्या घर-परिवार के भीतर किए जाने वाले आयु से संबंधित कार्यों में कोई परिवर्तन आया है? (अर्थात्, क्या अब जवान/बूढ़े लोगों द्वारा किए जाने वाले विभिन्न प्रकार के कार्यों में, पहले की तुलना में, कोई अंतर आया है?)।

वैकल्पिक रूप से, आप केवल इस बात पर ही ध्यान केंद्रित कर सकते हैं कि घर-परिवार के भीतर घरेलू कार्यों का बँटवारा कैसे किया जाता है, कौन क्या करता है और क्या इस बारे में हाल में कोई परिवर्तन हुआ है?

4. सार्वजनिक स्थान का उपयोग

यह शोध विषय उन सार्वजनिक स्थानों (जैसे, खुला मैदान, सड़क के किनारे की जगह या पैदल-पटरी, आवासीय बस्तियों में खाली पड़े भूखंड, सार्वजनिक कार्यालयों के बाहर की खाली जगह, आदि) के बारे में है जिनका उपयोग विभिन्न तरह से किया जाता है। उदाहरण के लिए, कुछ खाली जगहों में तो कई तरह के छोटे-छोटे काम-धंधे चलते हैं जैसे, सड़क के किनारे की खाली जगह में छिटपुट सामान बेचने

वाले खड़े होते हैं, छोटी-मोटी कामचलाऊ दुकानें होती हैं अथवा वाहन खड़े किए जाते हैं। अन्य जगहें, वैसे तो खाली दिखाई देती हैं, लेकिन समय-समय पर विभिन्न तरीकों से काम में लाई जाती है जैसे, विवाह या धार्मिक समारोहों के लिए, सार्वजनिक बैठकों के लिए, अथवा कई तरह की चीजें फेंकने के लिए.... अनेक खाली स्थानों पर बेघर गरीब लोग रहने लगते हैं और इस प्रकार वहाँ उनके घर ही बन जाते हैं। इस सामान्य विषय पर आप कुछ शोध प्रश्न तैयार करने की कोशिश करें: विभिन्न वर्गों के लोग सार्वजनिक स्थान के उपयोग के बारे में क्या महसूस करते हैं? इन वर्गों के लिए इस खाली जगह का क्या उपयोग हो सकता है? आपके पड़ोस में स्थित किसी खाली जगह का इस्तेमाल, समय के साथ, कैसे बदलता रहा है? क्या इसकी वजह से कोई लड़ाई-झगड़ा या मनमुटाव होता है? इन झगड़ों के क्या कारण हैं?

5. विभिन्न आयु वर्गों की बदलती हुई आकांक्षाएँ

क्या आपके संपूर्ण जीवन में आपकी महत्त्वाकांक्षाएँ सदा एक जैसी ही रही हैं? अधिकांश लोग विशेष रूप से छोटी उम्र में अपने लक्ष्य बदलते रहते हैं। इस शोध विषय के अंतर्गत यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि यह परिवर्तन कौन से हैं और क्या विभिन्न समूहों में इन परिवर्तनों का कोई विशेष स्वरूप

अनुसंधान विषय/क्षेत्र	अनुसंधान पद्धति/तकनीक का प्रकार	
	प्रेक्षण	**सर्वेक्षण**
सार्वजनिक परिवहन के तरीके : स्थानीय रेलवे या बस स्टेशन	व्यवहार के तरीके, प्रत्याशित शिष्टाचार, जगह की हिस्सेदारी	समय के साथ हुए परिवर्तनों के बारे में राय; अनुभव, कठिनाइयाँ, आदि।
घरेलू उपकरण (खाना बनाने के ईंधन/तरीके; पंखे, कूलर, एयर कंडीशन, इस्तरी, फ्रिज, मिक्सी ...)	उपयोग के स्वरूप; घर-परिवार में काम का बँटवारा; लैंगिक पक्ष	विभिन्न प्रकार के उपकरणों से संबंधित अभिवृत्तियाँ/ स्मृतियाँ
सार्वजनिक स्थानों का उपयोग (सड़क के किनारे, खाली जमीन, आदि)	अवलोकन कीजिए कि विभिन्न स्थानों में खाली जगहों का उपयोग कैसे होता है?	विशिष्ट सार्वजनिक स्थलों के विभिन्न प्रकार के उपयोग के बारे में लोगों के विभिन्न वर्गों की राय
विभिन्न आयु में (जैसे कक्षा 5, 8, 11) विद्यालयी बच्चों की बदलती हुई आकांक्षाएँ	उपयुक्त नहीं	विभिन्न पीढ़ियों के वयस्कों, बालकों एवं बालिकाओं का सर्वेक्षण (याद्दाश्त के आधार पर)
सामाजिक जीवन में संचार माध्यमों (मोबाइल फ़ोन से लेकर उपग्रह टेलिविज़न तक) का स्थान	गौर करें कि सार्वजनिक स्थानों में लोग मोबाइल फ़ोन का उपयोग कैसे करते हैं, उनके जीवन में इन उपकरणों का क्या स्थान है?	विभिन्न प्रकार के लोग कितना टेलीविज़न देखते हैं और उनके पसंदीदा कार्यक्रम क्या हैं?

अनुसंधान पद्धति/तकनीक का प्रकार			टीका-टिप्पणी/ सुझाव
	ऐतिहासिक	साक्षात्कार	
	परिवर्तन के इतिहास को जानने के लिए समाचारपत्र और अन्य स्रोत	नियमित रूप से या कभी-कभी इस्तेमाल करने वालों के विचार; पुरुष बनाम स्त्रियाँ, आदि	अपेक्षाकृत बड़े शहरों के लिए ही उपयुक्त
	विभिन्न प्रकार के उपकरणों के लिए विज्ञापन के स्वरूप	विशेष उपकरणों के बारे में विभिन्न प्रकार के लोगों की प्रतिक्रिया क्या है?	इस कार्य को करने के लिए लड़कों को प्रोत्साहित किया जाए; यह विषय 'लड़कियों का' नहीं रह जाए
	गत वर्षों में किसी विशेष स्थान को किन विभिन्न प्रकारों से उपयोग किया जाता था?	क्या विभिन्न सामाजिक वर्गों, समूहों के लोग खाली जगह के उपयोग के बारे में विभिन्न विचार रखते हैं?	उत्तम यही होगा कि शोध कार्य के लिए ऐसे स्थानों को चुना जाए जिनसे लोग भलीभाँति परिचित हों या संबंध रखते हों
	अतीत से सामग्री की (जैसे, इस विषय पर विद्यालय में लिखे गए निबंध की उपलब्धता पर निर्भर	एक समूह से उनके अपने विकास के बारे में बातचीत करें, अथवा विभिन्न आयु वर्गों के लोगों से बातचीत करें	साक्षात्कार लेने के लिए चुने गए छात्र अपने ही विद्यालय के नहीं होने चाहिए
	किसी भी मौजूदा दिलचस्प मुद्दे को संचार माध्यमों में दिए गए स्थान का विश्लेषण	फ़ोन सुलभ हो जाने के बाद लोग पत्र लिखने में आई गिरावट के बारे में क्या महसूस करते हैं?	इस मुद्दे पर कोई पूर्वनिर्णय न लें (जैसे, यह बड़े दुख की बात है कि पत्र-लेखन में इतनी गिरावट आ गई है) पूछें, बताएँ नहीं।

है। इस संबंध में शोध कार्य करने के लिए आप विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में विभिन्न आयु वर्गों (जैसे, कक्षा 5, 8 और 11) के बच्चों, स्त्री-पुरुष, विभिन्न पैतृक पृष्ठभूमि, आदि के लोगों को चुन सकते हैं और यह देख सकते हैं कि क्या उनमें परिवर्तन का कोई विशेष रूप दिखाई देता है। आप अपने शोध कार्य में वयस्कों को भी शामिल कर सकते हैं और यह देख सकते हैं कि क्या उन्हें कोई ऐसा परिवर्तन याद आता है और क्या विद्यालय जाने वाले बच्चों की तुलना में विद्यालयी शिक्षा समाप्त कर चुके बच्चों में परिवर्तनों का कोई निश्चित स्वरूप है।

6. एक वस्तु की जीवनी

आप अपने घर में मौजूद एक विशेष उपभोग वस्तु जैसे, टेलीविज़न, मोटर साइकिल, कारपेट (कालीन) या फर्नीचर के बारे में सोचें। यह कल्पना करने की कोशिश करें कि उस वस्तु का जीवन-इतिहास क्या रहा होगा। आप अपने आपको वह वस्तु मानकर अपनी 'आत्मकथा' लिखें। उस वस्तु को अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँचने के लिए विनिमय के किन दौरों से गुजरना पड़ा है? क्या आप उन सामाजिक संबंधों को खोज सकते हैं जिनके माध्यम से वह वस्तु बनाई, बेची और खरीदी गई थी? इसका इसके मालिकों यानी आप, आपके परिवार, समुदाय के लिए क्या प्रतीकात्मक महत्त्व है?

यदि आपका टेलीविज़न (या सोफा-सेट अथवा मोटर साइकिल...) स्वयं सोच या बोल सकता तो वह उन लोगों के बारे में क्या कहता जिनके संपर्क में वह आया है? (जैसे, आपका परिवार अथवा अन्य परिवार या घर जिनकी आप कल्पना कर सकते हों)।